

Chapter नौ

ध्रुव महाराज का घर लौटना

मैत्रेय उवाच
 त एवमुत्सन्नभया उरुक्रमे
 कृतावनामाः प्रययुस्त्रिविष्टपम् ।
 सहस्रशीर्षापि ततो गरुत्मता
 मधोर्वनं भृत्यदिदक्षया गतः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; ते—देवतागण; एवम्—इस प्रकार; उत्सन्न-भयाः—समस्त प्रकार के डर से रहित; उरुक्रमे—भगवान् को, जिनके कार्य अलौलिक हैं; कृत-अवनामाः—नमस्कार किये गये; प्रययुः—वे लौट गये; त्रि-विष्टपम्—अपने अपने दैव लोकों को; सहस्र-शीर्षा अपि—सहस्रशीर्ष कहलानेवाले भगवान् भी; ततः—वहाँ से; गरुत्मता—गरुड़ पर आरुढ़ होकर; मधोः वनम्—मधुवन; भृत्य—दास; दिदक्षया—देखने की इच्छा से; गतः—गये।

महर्षि मैत्रेय ने विदुर से कहा : जब भगवान् ने देवताओं को इस प्रकार फिर से आश्वासन दिलाया तो वे समस्त प्रकार के भय से मुक्त हो गये और वे सब उन्हें नमस्कार करके अपने-अपने देवलोकों को चले गये। तब भगवान्, जो साक्षात् सहस्रशीर्ष अवतार हैं, गरुड़ पर सवार हुए और अपने दास ध्रुव को देखने के लिए मधुवन गये।

तात्पर्य : सहस्रशीर्ष शब्द गर्भोदकशायी विष्णु के लिए प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि भगवान् क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में प्रकट हुए थे, किन्तु उन्हें यहाँ गर्भोदकशायी सहस्रशीर्ष विष्णु के रूप में वर्णित किया गया है क्योंकि वे गर्भोदकशायी विष्णु से अभिन्न हैं। श्रील सनातन गोस्वामी ने अपने भागवतामृत में विष्णु के इस रूप को पृश्निगर्भ अवतार बतलाया है। उन्होंने ध्रुव महाराज के रहने के लिए ध्रुवलोक की सृष्टि की।

स वै धिया योगविपाकतीव्रया
 हृत्पद्मकोशे स्फुरितं तडित्प्रभम् ।
 तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य
 बहिःस्थितं तदवस्थं ददर्श ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—ध्रुव महाराज; वै—भी; धिया—ध्यान से; योग-विपाक-तीव्रया—प्रखर योगाभ्यास के कारण; हृत्—हृदय के; पद्म-कोशे—कमल पर; स्फुरितम्—प्रकट; तडित्-प्रभम्—बिजली के समान तेजमय; तिरोहितम्—विलीन हुई; सहसा—अकस्मात्; एव—भी; उपलक्ष्य—देखकर; बहिः-स्थितम्—बाहर स्थित; तत्-अवस्थम्—उसी मुद्रा में; ददर्श—देख सका।

ध्रुव महाराज अपने प्रखर योगाभ्यास के समय भगवान् के जिस बिजली सदृश तेजमान रूप के ध्यान में निमग्न थे, वह सहसा विलीन हो गया। फलतः ध्रुव अत्यन्त विचलित हो उठे और उनका ध्यान टूट गया। किन्तु ज्योंही उन्होंने अपने नेत्र खोले, वैसे ही उन्होंने अपने समक्ष पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को उसी रूप में साक्षात् उपस्थित देखा, जिस रूप का दर्शन वे अपने हृदय में कर रहे थे।

तात्पर्य : अपने प्रखर योगमय ध्यान के कारण ध्रुव महाराज अपने हृदय में भगवान् के जिस स्वरूप का निरन्तर दर्शन कर रहे थे, किन्तु सहसा अपने हृदय से इस रूप के विलुप्त होने पर उन्होंने सोचा कि उस रूप को उन्होंने खो दिया है। इससे ध्रुव महाराज चिन्तित हुए, किन्तु आँख खुलने तथा ध्यान टूटने पर उन्होंने देखा कि भगवान् का वही रूप उनके समक्ष उपस्थित है। *ब्रह्म संहिता* में (५.३८) कहा गया है—*प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन*—जिस सत्पुरुष ने अपनी भक्ति द्वारा ईश्वर के प्रति प्रेम उत्पन्न कर लिया है, वह श्यामसुन्दर के दिव्य रूप का निरन्तर दर्शन करता है। भक्त के हृदय में स्थित श्यामसुन्दर का यह रूप काल्पनिक नहीं होता। जब भक्त की भक्ति प्रौढ़ हो जाती है, तो वह अपनी भक्ति की अवधि में जिस रूप का चिन्तन करता रहता है, वही श्यामसुन्दर सामने दिखता है। चूँकि परमेश्वर परम है, अतः चाहे भक्त के हृदय का रूप हो या मन्दिर में स्थित रूप हो अथवा वैकुण्ठधाम वृन्दावन में स्थित आदि रूप हो, ये सभी एक ही होते हैं। वे एक दूसरे से अभिन्न होते हैं।

तद्दर्शनेनागतसाध्वसः क्षिता-

ववन्दताङ्गं विनमय्य दण्डवत् ।

दृग्भ्यां प्रपश्यन्प्रपिबन्निवार्षिक-

श्रुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्-दर्शनेन—भगवान् का दर्शन करके; आगत-साध्वसः—अत्यधिक विह्वल ध्रुव महाराज; क्षितौ—पृथ्वी पर; अवन्दत—नमस्कार किया; अङ्गम्—शरीर; विनमय्य—गिरकर; दण्डवत्—डंडे के समान; दृग्भ्याम्—अपनी आँखों से; प्रपश्यन्—देखते हुए; प्रपिबन्—पान करते हुए; इव—सदृश; अर्षिकः—बालक; चुम्बन्—चुम्बन; इव—सदृश; आस्येन—मुख से; भुजैः—अपनी बाहों से; इव—सदृश; आश्लिषन्—भरते हुए।

जब ध्रुव महाराज ने अपने भगवान् को अपने सन्मुख देखा तो वे अत्यन्त विह्वल हो उठे और उन्होंने उनका सादर अभिवादन किया। वे उनके समक्ष दण्ड के समान गिर पड़े और भगवत्प्रेम में

मग्न हो गये। आनन्द में ध्रुव महाराज भगवान् को इस प्रकार देख रहे थे, मानो उन्हें आँखों से पी रहे हों, उनके चरण कमलों को अपने मुख से चूम रहे हों और उन्हें अपनी भुजाओं में भर रहे हों।

तात्पर्य : स्वाभाविक है कि जब ध्रुव महाराज ने भगवान् को अपने सामने देखा तो वे विस्मय एवं सम्मान के कारण विह्वल हो उठे और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो वे उनके सारे स्वरूप को अपनी आँखों से पी जाएँगे। भगवान् के प्रति भक्त का प्रेम इतना उत्कट होता है कि वह उनके चरण कमलों को निरन्तर चूमते रहना चाहता है, वह उनके नखाग्रों का स्पर्श करते रहना चाहता है तथा उनके चरणकमलों को लगातार भुजाओं में भरे रहना चाहता है। भगवान् को अपने समक्ष देखकर ध्रुव महाराज के शरीर में उठनेवाले ये भाव बताते हैं कि उनके शरीर में आठ प्रकार के दिव्य आनन्द प्रकट हो उठे।

स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरि-

ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः ।

कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना

पस्पर्शं बालं कृपया कपोले ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सः—भगवान्; तम्—ध्रुव महाराज को; विवक्षन्तम्—गुणों का गान करने की अभिलाषा से; अ-तत्-विदम्—उसमें पटु न होने से; हरिः—भगवान्; ज्ञात्वा—जानकर; अस्य—ध्रुव का; सर्वस्य—प्रत्येक का; च—तथा; हृदि—हृदय में; अवस्थितः—स्थित होकर; कृत-अञ्जलिम्—हाथ जोड़ कर; ब्रह्म-मयेन—वैदिक मंत्रों के शब्दों से युक्त; कम्बुना—अपने शंख से; पस्पर्शं—स्पर्श किया; बालम्—बालक को; कृपया—अहैतुकी कृपा से; कपोले—मस्तक पर।

यद्यपि ध्रुव महाराज छोटे से बालक थे, किन्तु वे उपयुक्त शब्दों से भगवान् की स्तुति करना चाह रहे थे। किन्तु अनुभवहीन होने के कारण वे तुरन्त अपने को सँभाल नहीं सके। प्रत्येक हृदय में वास करनेवाले भगवान् ध्रुव महाराज की विषम स्थिति को समझ गये। अतः अपनी अहैतुकी कृपा से उन्होंने अपने समक्ष हाथ जोड़कर खड़े हुए ध्रुव महाराज के मस्तक पर अपना शंख छुआ दिया।

तात्पर्य : प्रत्येक भक्त भगवान् के दिव्य गुणों का गान करना चाहता है। भक्त सदैव भगवान् के दिव्य गुणों को सुनने के लिए इच्छुक रहते हैं और इन गुणों का गान करना चाहते रहते हैं, किन्तु कभी-कभी विनम्रतावश कठिनाई उपस्थित हो जाती है। अतः प्रत्येक मनुष्य के हृदय में वास करनेवाले

भगवान् अपने भक्त को बुद्धि प्रदान करते हैं कि वह यशगान कर सके। अतः यह मानना चाहिए कि भक्त जब भगवान् के विषय में कुछ लिखता या बोलता है, तो उसके शब्द भगवान् द्वारा उसके अन्तःकरण से प्रस्कृतित किये हुए होते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* के दशम अध्याय में इस प्रकार हुई है—जो लोग ईश्वर की दिव्य सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें भगवान् उनके अन्तःकरण से आदेश देते रहते हैं कि उनके सेवा के लिए आगे क्या किया जाये। ध्रुव महाराज को अनुभव न होने के कारण जब जब भगवान् का वर्णन न कर सकने के कारण संकोच हुआ, तो भगवान् ने अपनी अहैतुकी कृपावश उनके मस्तक पर अपना शंख छुआ दिया जिससे ध्रुव को दिव्य प्रेरणा प्राप्त हो गई। यह दिव्य प्रेरणा *ब्रह्म-मय* कहलाती है, क्योंकि जब कोई इस प्रकार से प्रेरित होता है, तो उसके मुख से जो ध्वनि निकलती है, वह ठीक वेदों की ध्वनि जैसी होती है। यह ध्वनि इस भौतिक जगत की सामान्य ध्वनि नहीं होती। अतः हरे कृष्ण मंत्र की ध्वनि को भले ही वह सामान्य शब्दों में प्रस्तुत की जाती है, सांसारिक अथवा भौतिक नहीं समझना चाहिए।

स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं

दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः ।

तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं

परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सः—ध्रुव महाराज; वै—निश्चय ही; तदा—उस समय; एव—ही; प्रतिपादिताम्—प्राप्त करके; गिरम्—वाणी; दैवीम्—दिव्य; परिज्ञात—जाना हुआ; पर-आत्म—परम-आत्मा का; निर्णयः—निष्कर्ष; तम्—भगवान् को; भक्ति-भावः—भक्ति में स्थित; अभ्यगृणात्—स्तुति की; असत्वरम्—बिना जल्दबाजी दिखाये; परिश्रुत—विख्यात; उरु-श्रवसम्—जिसका यश; ध्रुव-क्षितिः—ध्रुव जिसके लोक का नाश नहीं होगा।

उस समय ध्रुव महाराज को वैदिक निष्कर्ष का पूर्ण ज्ञान हो गया और वे परम सत्य तथा सभी जीवात्माओं से उनके सम्बन्ध को जान गये। भगवान् के सेवाभाव के अनुसार विश्वविख्यात ध्रुव ने, जिन्हें शीघ्र ही ऐसे लोक की प्राप्ति होनेवाली थी, जो कभी भी यहाँ तक कि प्रलय काल में विनष्ट न होने वाला है, सहज भाव से सोदेश्य व निर्णयात्मक स्तुति की।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई विचारणीय बातें हैं। पहली तो यह कि परम सत्य तथा सापेक्षिक भौतिक एवं आत्मिक शक्तियों के मध्य का सम्बन्ध वैदिक साहित्य से परिचित व्यक्ति ही समझ सकता

है। ध्रुव महाराज कभी किसी स्कूल या अध्यापक के पास वैदिक ज्ञान सीखने नहीं गये, किन्तु अपनी भगवद्भक्ति के कारण, ज्योंही भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने उनके मस्तक को शंख से छुआ, उन्हें सारा वैदिक ज्ञान स्वतः प्राप्त हो गया। वैदिक साहित्य को समझने की यही विधि है। मात्र विद्यालयीन शिक्षा लेने से इसे कोई नहीं समझ सकता। वेद यह संकेत करते हैं कि जिसकी परमेश्वर तथा गुरु के प्रति अविचल श्रद्धा है उसी को वैदिक ज्ञान प्राप्त हो पाता है।

ध्रुव महाराज तो वह आदर्श हैं कि वे अपने गुरु नारदमुनि के आदेशानुसार भगवद्भक्ति में लगे और उनके दृढ़ संकल्प तथा तपस्या से भक्ति करने के फलस्वरूप भगवान् उनके समक्ष साक्षात् प्रकट हुए। ध्रुव अभी बालक ही थे। वे भगवान् की उत्तम स्तुति करना चाहते थे, किन्तु पर्याप्त ज्ञान न होने से वे संकोच कर रहे थे, किन्तु जैसे ही उन्होंने अपना शंख उनके मस्तक पर छुआया, भगवान् की कृपा से उन्हें वैदिक ज्ञान पूर्णतः ज्ञात हो गया। निष्कर्ष यह है कि जीव तथा परमात्मा के अन्तर को ठीक-ठीक जान लेने पर यह ज्ञान आधारित है। व्यष्टि आत्मा परमात्मा का नित्य दास है; अतः परमात्मा की सेवा करना ही उसका परम धर्म है। यही भक्तियोग या भक्ति-भाव कहलाता है। ध्रुव महाराज ने जो स्तुति की वह निर्विशेषवादी दार्शनिक के रूप में नहीं, अपितु भक्त रूप में की। इसीलिए यहाँ पर स्पष्ट रूप से भक्ति भाव का उल्लेख है। परमेश्वर के प्रति प्रस्तुत की जाने वाली वही स्तुतियाँ योग्य हैं, जिनका यश दूर-दूर तक फैलता है। ध्रुव महाराज अपने पिता का राज्य प्राप्त करना चाह रहे थे, किन्तु पिता ने तो उन्हें गोद तक में बिठाने से इनकार कर दिया था। अतः उनकी इच्छा की पूर्ति के लिए भगवान् ने पहले ही ध्रुवलोक की सृष्टि की जिसका विनाश ब्रह्माण्ड के प्रलय के समय भी नहीं हो सकता। ध्रुव महाराज को यह सिद्धि हड़बड़ी में नहीं मिली, उन्होंने बड़े ही धैर्य से गुरु के आदेश का पालन किया जिससे उन्हें भगवान् के साक्षात् दर्शन प्राप्त हो सके। अब भगवान् की अहैतुकी कृपा से वे और अच्छे ढंग से भगवान् की स्तुति करने में समर्थ हुए। परमेश्वर का गुणगान या स्तुति करने के लिए भगवान् की कृपा होनी चाहिए। जब तक कोई भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह भगवान् के यश का अंकन नहीं कर सकता।

ध्रुव उवाच

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां

सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना ।

अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्

प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवः उवाच—ध्रुव महाराज ने कहा; यः—जो परमेश्वर; अन्तः—अन्तःकरण; प्रविश्य—प्रवेश करके; मम—मेरे; वाचम्—शब्द; इमाम्—ये सभी; प्रसुप्ताम्—निश्चल या मृत; सञ्जीवयति—पुनः जीवित होता है; अखिल—विश्वव्यापी; शक्ति—शक्ति; धरः—धारण करनेवाला; स्व-धाम्ना—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; अन्यान् च—अन्य अंग भी; हस्त—यथा हाथ; चरण—पाँव; श्रवण—कान; त्वक्—चर्म; आदीन्—इत्यादि; प्राणान्—प्राण, जीवन-शक्ति; नमः—नमस्कार है; भगवते—भगवान् को; पुरुषाय—परम पुरुष को; तुभ्यम्—तुमको।

ध्रुव महाराज ने कहा : हे भगवन्, आप सर्वशक्तिमान हैं। मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर आपने मेरी सभी सोई हुई इन्द्रियों को—हाथों, पाँवों, स्पर्शेन्द्रिय, प्राण तथा मेरी वाणी को—जाग्रत कर दिया है। मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज सहज ही अनुमान लगा सके कि आत्म-साक्षात्कार करने और साक्षात् भगवान् को देखने के पूर्व और पश्चात् उनकी जो स्थिति थी उसमें कितना अन्तर था। उन्हें अनुभव हुआ कि उनके प्राण तथा कार्य सुप्तावस्था में थे। जब तक मनुष्य आध्यात्मिक स्तर पर नहीं पहुँचता, उसके शरीर के अंग, उसका मन तथा अन्य अनुभव सोए हुए समझे जाते हैं। जब तक मनुष्य आध्यात्मिक, स्तर पर नहीं पहुँचता, उसके शरीर के अंग, उसका मन तथा अन्य अवयव सोए हुए समझे जाते हैं। जब तक मनुष्य आत्म-दशा को प्राप्त नहीं होता, तब तक उसके सारे कार्य मृत व्यक्ति के कार्य या प्रेत कार्य समझे जाते हैं। श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ने अपने एक गीत में स्वयं को इस प्रकार सम्बोधित किया है, “हे जीवात्मा! जागो! तुम माया की गोद में कब तक सोते रहोगे? अब तुम्हें मानव देह प्राप्त हुई है, अतः तुम जगने और अपने को समझने का प्रयत्न करो।” वेद भी यही घोषित करते हैं, “उठो, उठो, तुम्हें मनुष्य रूप का वरदान प्राप्त हुआ है, अतः अपने आपको पहचानो।” ये वैदिक आदेश हैं।

ध्रुव महाराज को वास्तविक अनुभव हुआ कि इन्द्रियों के आध्यात्मिक स्तर पर आलोकित होने से वे वैदिक आदेश के सार को—कि परमेश्वर ही परम पुरुष है, वह निर्गुण नहीं है—समझ सके। उन्हें तुरन्त ही यह बात समझ में आ गई। उन्हें इसका ज्ञान था कि दीर्घकाल से वे सुप्तप्राय थे और अब

वैदिक ज्ञान के अनुसार भगवान् की स्तुति करने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त कर सके हैं। कोई सांसारिक व्यक्ति भगवान् की स्तुति या यशोगान नहीं कर सकता क्योंकि उसे वैदिक सार का अनुभव नहीं होता।

अतः जब ध्रुव महाराज ने अपने आपमें अन्तर देखा तो वे तुरन्त समझ गये कि यह भगवान् की अहैतुकी कृपा से हो रहा है। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा तथा सम्मानपूर्वक भगवान् को नमस्कार किया और समझ गये कि उन पर भगवान् की पूर्ण कृपा है। ध्रुव महाराज की इन्द्रियों तथा मन का यह आत्म-जागरण भगवान् की अन्तरंगा शक्ति के प्रभाव से था। अतः इस श्लोक में *स्व-धाम्ना* शब्द का अर्थ है, “परा शक्ति द्वारा।” भगवान् की पराशक्ति की कृपा से ही आत्म प्रकाश सम्भव है। हरे कृष्ण मंत्र कीर्तन में सर्वप्रथम भगवान् की पराशक्ति की कृपा, हरे, को सम्बोधित किया गया है। जब जीवात्मा पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण कर देता है और सनातन दास के रूप में अपने को स्वीकार कर लेता है, तब पराशक्ति कार्य करती है। जब कोई मनुष्य परमेश्वर के कहने या उनके आदेश पालन के लिए तत्पर रहता है, तो वह *सेवोन्मुख* कहलाता है। उस समय पराशक्ति ही उसे भगवान् के भेद को प्रकट करती है।

पराशक्ति द्वारा प्रकट किये बिना कोई भगवान् की स्तुति कर सकने में समर्थ नहीं है। चाहे संसारी जीव कितना ही दार्शनिक चिन्तन अथवा काव्यसृजन क्यों न करे, फिर भी यह भौतिक शक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया माना जाता है। जब कोई पराशक्ति द्वारा सचमुच जाग्रत होता है, तो उसकी सारी इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं और वह केवल भगवान् की सेवा करता है। उस समय उसकी सारी इन्द्रियाँ—हाथ, पाँव, कान, जीभ, मन, जननांग आदि—भगवान् की सेवा में लग जाती हैं। ऐसे प्रकाश-प्राप्त भक्त के न तो कोई भौतिक कार्य रह जाते हैं और न उसे सांसारिक कामों में व्यस्त रहना रुचिकर प्रतीत होता है। इन्द्रियों को शुद्ध करने उन्हें भगवान् की सेवा में लगाने की यह प्रक्रिया भक्ति कहलाती है। प्रारम्भ में तो गुरु तथा शास्त्र के निर्देशन से इन्द्रियों को सेवा में लगाया जाता है, किन्तु साक्षात्कार के बाद वही इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं और सेवा-भाव चलता रहता है। अन्तर इतना ही होता है कि प्रारम्भ में इन्द्रियाँ यांत्रिक रूप से तत्पर होती हैं, किन्तु साक्षात्कार के बाद वे आत्म-ज्ञान द्वारा सेवा में लग जाती हैं।

एकस्त्वमेव भगवन्निदमात्मशक्त्या
 मायाख्ययोरुगुणया महदाद्यशेषम् ।
 सृष्ट्वानुविश्य पुरुषस्तदसद्गुणेषु
 नानेव दारुषु विभावसुवद्विभासि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; त्वम्—तुम; एव—निश्चय ही; भगवन्—हे भगवन्; इदम्—यह भौतिक जगत; आत्म-शक्त्या—अपनी शक्ति से; माया-आख्यया—माया नाम की; ऊरु—अत्यन्त शक्तिशाली; गुणया—प्रकृति के गुणों से युक्त; महत्-आदि—महत्-तत्त्व आदि.; अशेषम्—अनन्त; सृष्ट्वा—सृष्टि करके; अनुविश्य—फिर प्रवेश करके; पुरुषः—परमात्मा; तत्—माया का; असत्-गुणेषु—क्षणिक प्रकट गुणों में; नाना—प्रत्येक प्रकार से; इव—मानो; दारुषु—काष्ठ खण्डों में; विभावसु-वत्—अग्नि के समान; विभासि—प्रकट होते हो ।

हे भगवन्, आप सर्वश्रेष्ठ हैं, किन्तु आप आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों में अपनी विभिन्न शक्तियों के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट होते रहते हैं। आप अपनी बहिरंगा शक्ति से भौतिक जगत की समस्त शक्ति को उत्पन्न करके बाद में भौतिक जगत में परमात्मा के रूप में प्रविष्ट हो जाते हैं। आप परम पुरुष हैं और क्षणिक गुणों से अनेक प्रकार की सृष्टि करते हैं, जिस प्रकार कि अग्नि विभिन्न आकार के काष्ठखण्डों में प्रविष्ट होकर विविध रूपों में चमकती हुई जलती है।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को ज्ञान हुआ कि परमेश्वर अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा कार्य करता है, वह शून्य या निर्गुण नहीं बनता तथा इस प्रकार वह सर्वव्यापी हो जाता है। मायावादी चिन्तक सोचता है कि परमेश्वर समूचे दृश्य जगत में व्याप्त है, अतः उसके कोई रूप नहीं। किन्तु वैदिक ज्ञान का बोध हो जाने से यहाँ पर ध्रुव कहते हैं “आप अपनी शक्ति के द्वारा समग्र दृश्य-जगत भर में व्याप्त हैं।” यह शक्ति वास्तव में परा है, किन्तु भौतिक जगत में क्षणिक रूप से कार्यशील होने के कारण माया कहलाती है। दूसरे शब्दों में, भक्तों के अतिरिक्त सबों के लिए भगवान् की शक्ति बहिरंगा शक्ति होती है। ध्रुव महाराज इस तथ्य को अच्छी तरह समझ सके। और यह भी समझ गये कि शक्ति और शक्तिमान एक समान तथा एक ही हैं। शक्ति को शक्तिमान से पृथक् नहीं किया जा सकता।

परमात्मा के रूप में भगवान् की पहचान को यहाँ स्वीकार किया गया है। उनकी आदि परा शक्ति भौतिक शक्ति को जगाती है, जिससे मृत शरीर प्राणशक्ति से पूरित प्रतीत होता है। शून्यवादी विचारक सोचते हैं कि किन्हीं भौतिक परिस्थितियों में भौतिक वस्तु में जीवन के लक्षण प्रकट होते हैं, किन्तु

तथ्य यह है कि भौतिक शरीर स्वतः कार्य नहीं कर सकता। यहाँ तक कि मशीन को भी पृथक् शक्ति (बिजली, भाप इत्यादि) की आवश्यकता होती है। इस श्लोक में कहा गया है कि भौतिक शक्ति नाना प्रकार की भौतिक वस्तुओं में कार्य करती है, जिस प्रकार कि अग्नि विभिन्न प्रकार के लकड़ी के टुकड़ों में भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थात् लकड़ी के आकार तथा गुण के अनुसार जलती है। भक्तों में वही शक्ति पराशक्ति में परिणत हो जाती है। ऐसा सम्भव है, क्योंकि शक्ति मूलतः पराशक्ति रूप में रहती है, भौतिक रूप में नहीं। जैसा कि कहा गया है— *विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता।* आदि शक्ति भक्त को जगाती है और इस तरह वह अपने समस्त अंगों को भगवान् की सेवा में लगाता है। वही शक्ति, बहिरंगा शक्ति के रूप में अभक्तों को इन्द्रियतृप्ति के भौतिक व्यापारों में प्रवृत्त करती है। हमें माया तथा *स्वधाम* का अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए। भक्तों में तो *स्वधाम* कार्यशील रहता है और अभक्तों में माया शक्ति।

त्वद्दत्तया वयुनयेदमचष्ट विश्वं

सुप्तप्रबुद्ध इव नाथ भवत्प्रपन्नः ।

तस्यापवर्ग्यशरणं तव पादमूलं

विस्मर्यते कृतविदा कथमार्तबन्धो ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

त्वद्-दत्तया—तुम्हारे द्वारा प्रदत्त; वयुनया—ज्ञान से; इदम्—यह; अचष्ट—देख सकता है; विश्वम्—समग्र ब्रह्माण्ड; सुप्त-प्रबुद्धः—सोकर जगे हुए पुरुष; इव—के समान; नाथ—हे प्रभु; भवत्-प्रपन्नः—भगवान् ब्रह्मा, जो आपके शरणागत हैं; तस्य—उसका; आपवर्ग्य—मुक्ति के इच्छुक; शरणम्—शरण; तव—तुम्हारी; पाद-मूलम्—चरणकमल; विस्मर्यते—भुलाया जा सकता है; कृत-विदा—विद्वान् पुरुष; कथम्—किस प्रकार; आर्त-बन्धो—हे दुखियों के मित्र।

हे स्वामी, ब्रह्मा पूर्ण रूप से आपके शरणागत हैं। आरम्भ में आपने उन्हें ज्ञान दिया तो वे समस्त ब्रह्माण्ड को उसी तरह देख और समझ पाये जिस प्रकार कोई मनुष्य नींद से जगकर तुरन्त अपने कार्य समझने लगता है। आप मुक्तिकामी समस्त पुरुषों के एकमात्र आश्रय हैं और आप समस्त दीन-दुखियों के मित्र हैं। अतः पूर्ण ज्ञान से युक्त विद्वान् पुरुष आपको किस प्रकार भुला सकता है?

तात्पर्य : शरणागत भक्त भगवान् को क्षण-भर के लिए भी नहीं भूलते। भक्त जानता है कि भगवान् की अहैतुकी कृपा उसके अनुमान से परे है; वह नहीं समझ पाता कि भगवत्कृपा से वह कितना लाभ उठा रहा है। जो भक्त जितना ही भगवद्भक्ति में अनुरक्त रहता है उसे भगवद्भक्ति से

उतना ही प्रोत्साहन मिलता रहता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि जो प्रेम तथा स्नेह से भगवान् की भक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें भगवान् अन्दर से बुद्धि प्रदान करता है और इस तरह वे और अधिक उन्नति कर सकते हैं। इस प्रकार प्रोत्साहन पाने के कारण भक्त भगवान् को क्षण-भर भी नहीं भूल सकता। वह उनका सदैव कृतज्ञ रहता है कि उनकी कृपा से उसे अधिकाधिक भक्ति करने की शक्ति प्राप्त हुई। भगवान् की कृपा से ज्ञान द्वारा सनक, सनातन तथा ब्रह्मा जैसे साधु पुरुषों को समग्र ब्रह्माण्ड देख सकने की शक्ति प्राप्त हो सकी। यहाँ पर उदाहरण प्रस्तुत किया गया है कि कोई मनुष्य भले ही दिन भर अपने को निद्रा से दूर रखे, किन्तु जब तक उसे आत्म-प्रकाश प्राप्त नहीं होता वह सुप्तवत् ही रहता है। वह रात में सोकर दिन में अपना कार्य भले कर ले, किन्तु जब तक उसे आध्यात्मिक प्रकाश में कार्य करने के स्तर तक नहीं पहुँचता वह सोया हुआ ही समझा जाता है। अतः भक्त कभी भी भगवान् से प्राप्त लाभ को भुलाता नहीं।

भगवान् को यहाँ *आर्त-बन्धु* कहकर सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है, “दीन-दुखियों का मित्र।” जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, ज्ञान की खोज में जन्म-जन्मान्तर कठिन तपस्या करने के पश्चात् ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है और जब मनुष्य अपने को भगवान् को समर्पित कर देता है, तो वह बुद्धिमान बनता है। मायावादी दार्शनिक परमेश्वर को समर्पित नहीं होता, अतः उसे वास्तविक ज्ञान नहीं मिल पाता। पूर्णज्ञान प्राप्त भक्त भगवान् अनुग्रह को क्षणभर भी नहीं भूल पाता।

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते

ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।

अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-

मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—अवश्य ही; विमुष्ट-मतयः—जिन्होंने अपनी बुद्धि खो दी है; तव—तुम्हारी; मायया—माया के प्रभाव से; ते—वे; ये—जो; त्वाम्—तुम; भव—जन्म से; अप्यय—तथा मृत्यु; विमोक्षणम्—मुक्ति का कारण; अन्य-हेतोः—अन्य कार्यों के लिए; अर्चन्ति—पूजते हैं; कल्पक-तरुम्—जो कल्पतरु के समान हैं; कुणप—इस मृत शरीर का; उपभोग्यम्—इन्द्रियतृप्ति; इच्छन्ति—इच्छा करते हैं; यत्—जो; स्पर्श-जम्—स्पर्श से उत्पन्न; निरये—नरक में; अपि—भी; नृणाम्—मनुष्यों के लिए।

जो व्यक्ति इस चमड़े के थैले (शवतुल्य देह) की इन्द्रियतृप्ति के लिए ही आपकी पूजा करते हैं, वे निश्चय ही आपकी माया द्वारा प्रभावित हैं। आप जैसे कल्पवृक्ष तथा जन्म-मृत्यु से

मुक्ति के कारण को पार करके भी मेरे समान मूर्ख व्यक्ति आपसे इन्द्रियतृप्ति हेतु वरदान चाहते हैं, जो नरक में रहनेवाले व्यक्तियों के लिए भी उपलब्ध हैं।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को पश्चात्ताप हो रहा था क्योंकि वे भौतिक लाभ के उद्देश्य से भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त हुए थे। यहाँ पर वे अपनी इस प्रवृत्ति की भर्त्सना करते हैं। केवल अज्ञानवश ही मनुष्य इन्द्रियतृप्ति या भौतिक लाभ के उद्देश्य से भगवान् की पूजा करता है। भगवान् तो कल्पवृक्ष के सदृश हैं। चाहे जो कुछ भी उनसे लिया जा सकता है; किन्तु सामान्यतः लोग यह नहीं जानते हैं कि उनसे किस प्रकार का वरदान प्राप्त किया जाये। स्पर्श-सुख या काम-सुख तो कूकर-सूकर के जीवन में भी पाया जाता है। ऐसा सुख अत्यन्त तुच्छ होता है। यदि कोई भक्त ऐसे तुच्छ सुख के लिए भगवान् की पूजा करता है, तो समझना चाहिए कि वह समस्त ज्ञान से शून्य है।

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-

ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।

सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्

किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

या—वह जो; निर्वृतिः—आनन्द; तनु-भृताम्—देह धारियों का; तव—तुम्हारे; पाद-पद्म—चरणकमल का; ध्यानात्—ध्यान करने से; भवत्-जन—आपके अन्तरंगी भक्तों से; कथा—कथा; श्रवणेन—सुनने से; वा—अथवा; स्यात्—सम्भव; सा—वह आनन्द; ब्रह्मणि—निर्गुण ब्रह्म में; स्व-महिमनि—अपनी महिमा; अपि—भी; नाथ—हे भगवन्; मा—कभी नहीं; भूत्—उपस्थित रहता है; किम्—क्या कहना; तु—तब; अन्तक-असि—मृत्यु की तलवार से; लुलितात्—विनष्ट होकर; पतताम्—गिरे हुए का; विमानात्—विमान से।

हे भगवन्, आपके चरणकमलों के ध्यान से या शुद्ध भक्तों से आपकी महिमा का श्रवण करने से जो दिव्य आनन्द प्राप्त होता है, वह उस ब्रह्मानन्द अवस्था से कहीं बढ़कर है, जिसमें मनुष्य अपने को निर्गुण ब्रह्म से तदाकार हुआ सोचता है। चूँकि ब्रह्मानन्द भी भक्ति से मिलनेवाले दिव्य आनन्द से परास्त हो जाता है, अतः उस क्षणिक आनन्दमयता का क्या कहना, जिसमें कोई स्वर्ग तक पहुँच जाये और जो कालरूपी तलवार के द्वारा विनष्ट हो जाता है? भले ही कोई स्वर्ग तक क्यों न उठ जाये, कालक्रम में वह नीचे गिर जाता है।

तात्पर्य : श्रवणं कीर्तनम् द्वारा भक्ति से जो दिव्य आनन्द प्राप्त होता है उसकी तुलना कर्मियों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति से होनेवाले सुख से या ज्ञानियों अथवा योगियों द्वारा निर्गुण परब्रह्म के साथ तादात्म्य से

प्राप्य सुख से नहीं की जा सकती। योगी सामान्यतः विष्णु के दिव्य रूप का ध्यान धरते हैं, किन्तु भक्तजन न केवल उनका ध्यान करते हैं, वरन् उनकी वास्तविक सेवा में लगे रहते हैं। पिछले श्लोक में एक शब्द आया है *भवाप्यय* जो जन्म तथा मृत्यु का सूचक है। भगवान् जन्म-मृत्यु की शृंखला से छुटकारा दिला सकते हैं। यह सोचना भ्रामक है, जैसाकि एकेश्वरवादी कहते हैं, कि एक बार जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाने पर मनुष्य परब्रह्म में लीन हो जाता है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भक्तों को *श्रवणं कीर्तनम्* से जो आनन्द प्राप्त होता है उसकी तुलना *ब्रह्मानन्द* से नहीं की जा सकती जो परब्रह्म में लीन हो जाने से दिव्य आनन्द की निर्विशेष धारणा या कल्पना मात्र है।

कर्मियों की स्थिति तो और भी गिरी हुई है। उनका लक्ष्य उच्च लोकों को प्राप्त करना रहता है। *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है— *यान्ति देवव्रता देवान्*—जो लोग देवताओं की पूजा करते हैं, वे स्वर्गलोक जाते हैं। किन्तु अन्यत्र *भगवद्गीता* (९.२१) में हम पाते हैं— *क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*—ज्योंही पुण्यकर्मों का क्षय हो जाता है स्वर्ग को प्राप्त मनुष्यों को नीचे आना पड़ता है। वे आधुनिक अन्तरिक्ष यात्रियों के समान हैं, जो चन्द्रमा पर जाते हैं, किन्तु ज्योंही उनका ईंधन चुक जाता है उन्हें पृथ्वी पर पुनः उतरना पड़ता है। जिस प्रकार जेट-नोदन के बल पर चन्द्रमा या अन्य ग्रहों को जानेवाले आधुनिक अन्तरिक्ष-यात्रियों को ईंधन चुक जाने पर नीचे उतरना पड़ता है, उसी प्रकार यज्ञों तथा पुण्यकर्मों के बल पर स्वर्गलोक को प्राप्त करनेवाले लोगों को भी नीचे उतरना पड़ता है। *अन्तकासि लुलितात्*—मनुष्य काल रूपी तलवार से इस भौतिक संसार में अपने उच्च पद से काट कर गिरा दिया जाता है और वह फिर नीचे चला आता है। ध्रुव महाराज को बोध हुआ कि भक्ति का फल परम पूर्ण में तादाम्य होने से या स्वर्गलोक जाने से कहीं अधिक मूल्यवान है। *पततां विमानात्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जो लोक स्वर्गलोक पहुँच जाते हैं, वे उन विमानों के तुल्य हैं, जो ईंधन चुकने पर नीचे गिर पड़ते हैं।

भक्ति मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गे
 भूयादनन्त महताममलाशयानाम् ।
 येनाञ्जसोल्बणामुरुव्यसनं भवाब्धि

नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भक्तिम्—भक्ति; मुहुः—निरन्तर; प्रवहताम्—करनेवालों का; त्वयि—तुमको; मे—मेरा; प्रसङ्गः—अन्तरंग संगति; भूयात्—सम्भव है कि; अनन्त—हे अनन्त; महताम्—महान् भक्तों का; अमल-आशयानाम्—जिनके हृदय भौतिक कल्मष से रहित हैं; येन—जिससे; अञ्जसा—सरलतापूर्वक; उल्बणम्—भयंकर; उरु—बड़ा; व्यसनम्—संकटों से पूर्ण; भव-अब्धिम्—संसार-सागर; नेष्ये—पार करूँगा; भवत्—आपके; गुण—दिव्य गुण; कथा—लीलाएँ; अमृत—अमृत, शाश्वत; पान—पीकर; मत्तः—मस्त, पागल।

ध्रुव महाराज ने आगे कहा : हे अनन्त भगवान्, कृपया मुझे आशीर्वाद दें जिससे मैं उन महान् भक्तों की संगति कर सकूँ जो आपकी दिव्य प्रेमा भक्ति में उसी प्रकार निरन्तर लगे रहते हैं जिस प्रकार नदी की तरंगें लगातार बहती रहती हैं। ऐसे दिव्य भक्त नितान्त कल्मषरहित जीवन बिताते हैं। मुझे विश्वास है कि भक्तियोग से मैं संसार रूपी अज्ञान के सागर को पार कर सकूँगा जिसमें अग्नि की लपटों के समान भयंकर संकटों की लहरें उठ रही हैं। यह मेरे लिए सरल रहेगा, क्योंकि मैं आपके दिव्य गुणों तथा लीलाओं के सुनने के लिए पागल हो रहा हूँ, जिनका अस्तित्व शाश्वत है।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज के कथन की मुख्य बात यह है कि वे शुद्ध भक्तों की संगति चाहते थे। भक्तों की संगति के बिना दिव्य भक्ति न तो पूर्ण हो सकती है, न आस्वाद्य ही। इसीलिए हमने अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ बनाया है। यदि कोई इस संघ से विलग रह कर कृष्णचेतना में प्रवृत्त होता है, तो समझें कि वह व्यामोह (भ्रम) में रह रहा है, क्योंकि ऐसा असम्भव है। ध्रुव महाराज के इस कथन से स्पष्ट है कि जब तक मनुष्य भक्त की संगति नहीं करता, तब तक उसकी भक्ति परिपक्व नहीं होती और भौतिक कार्यकलापों से पृथक् नहीं हो सकती। भगवान् का कथन है (भागवत ३.२५.२५)—*सतां प्रसंगान् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः।* केवल शुद्ध भक्तों के संग में श्रीकृष्ण के वचन हृदय तथा कान को अच्छे लगते हैं। ध्रुव महाराज विशेष रूप से भक्तों की संगति चाहते थे। भक्ति-कार्यों में ऐसी संगति निरन्तर प्रवहमान नदी की तरंगों के तुल्य है। हमारे कृष्णभावनामृत संघ में चौबीसों घण्टे व्यस्त रहना पड़ता है; समय का हर पल भगवान् की सेवा में लगाया जाता है। यही भक्ति का अनवरत प्रवाह है।

कोई मायावादी चिन्तक हमसे प्रश्न कर सकता है, “आप लोग भक्तों की संगति में भले ही प्रसन्न

रहें, किन्तु भवसागर को कैसे पार करेंगे?’ ध्रुव महाराज का उत्तर है कि यह अधिक कठिन नहीं है। वे स्पष्ट कहते हैं कि इस सागर को सरलता से पार किया जा सकता है यदि कोई भगवान् के गुणों को सुनने के लिए पागल हो जाये— *भवद्-गुण-कथा*—जो कोई *श्रीमद्भागवत*, *भगवद्गीता* तथा *चैतन्य चरितामृत* से भगवान् की कथा को निरन्तर सुनना चाहता है और इसमें रस लेता है, जैसा कोई किसी नशे का आदी हो जाये, उसके लिए इस अज्ञान रूपी संसार को पार करना सरल है। भौतिक अज्ञान-जगत की तुलना दहकती अग्नि से की गई है, किन्तु भक्त के लिए यह अग्नि कोई अर्थ नहीं रखती, क्योंकि वह तो पूर्णरूपेण भक्ति में लीन रहता है। यद्यपि यह भौतिक जगत दहकती अग्नि के सदृश्य है, किन्तु भक्त के लिए यह आनन्द से पूर्ण प्रतीत होता है (*विश्वं पूर्ण-सुखायते*) !

ध्रुव महाराज के इस कथन का सार यह है कि भक्तों की संगति में की गई भक्ति आगे भी भक्ति के विकास का कारण बनती है। केवल भक्ति से ही कोई गोलोक वृंदावन नामक दिव्य लोक को जा सकता है और वहाँ भी केवल भक्ति ही भक्ति है क्योंकि इस लोक में तथा आध्यात्मिक जगत में भक्ति सम्बन्धी कार्य-कलाप एक-से होते हैं। भक्ति कभी बदलती नहीं। उदाहरण के लिए आम को लें। यदि किसी को कच्चा आम मिले तो वह आम ही होता है और जब यह पक जता है तब भी वह आम ही रहता है, किन्तु इसका स्वाद बढ़ जाता है। इसी प्रकार से एक भक्ति वह है, जो गुरु तथा शास्त्रों के निर्देश पर की जाती है और दूसरी आध्यात्मिक जगत की भक्ति है, जो भगवान् की संगति में की जाती है। किन्तु दोनों एक ही हैं; इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अन्तर यही है कि एक अपरिपक्व अवस्था है और दूसरी पक्व होने के साथ ही अधिक स्वादयुक्त। केवल भक्तों की संगति द्वारा भक्ति को परिपक्व बनाया जा सकता है।

ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं
 ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः ।
 ये त्वब्जनाभ भवदीयपदारविन्द-
 सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; न—कभी नहीं; स्मरन्ति—स्मरण करते हैं; अतितराम्—अत्यधिक; प्रियम्—प्रिय; ईश—हे भगवान्; मर्त्यम्—भौतिक देह; ये—जो; च—भी; अनु—के अनुसार; अदः—वह; सुत—पुत्र; सुहृत्—मित्र; गृह—घर; वित्त—सम्पत्ति; दाराः—पत्नी;

ये—जो; तु—लेकिन; अब्ज-नाभ—हे कमलनाभ वाले भगवान्; भवदीय—आपका; पद-अरविन्द—चरणकमल;
सौगन्ध्य—सुगन्धि; लुब्ध—आकृष्ट; हृदयेषु—भक्तों सहित, जिनके हृदय; कृत-प्रसङ्गाः—संगति करते हैं।

हे कमलनाभ भगवान्, यदि कोई व्यक्ति किसी ऐसे भक्त की संगति करता है, जिसका हृदय सदैव आपके चरणकमलों की सुगन्धि में लुब्ध रहता है, तो वह न तो कभी अपने भौतिक शरीर के प्रति आसक्त रहता है और न सन्तति, मित्र, घर, सम्पत्ति तथा पत्नी के प्रति देहात्मबुद्धि रखता है, जो भौतिकतावादी पुरुषों को अत्यन्त ही प्रिय हैं। वस्तुतः वह उनकी तनिक भी परवाह नहीं करता।

तात्पर्य : भक्ति का विशेष लाभ यह है कि भक्त लोग न केवल भगवान् की दिव्य लीलाओं का कीर्तन तथा श्रवण करने और उनकी स्तुति करने से आनन्द लेते हैं वरन् वे अपने शरीर के प्रति अनासक्त रहते हैं जबकि योगी लोग अपने शरीर के प्रति अत्यधिक आसक्त रहकर सोचते हैं कि वे यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करते हुए आत्म-चेतना में आगे बढ़ सकेंगे। सामान्यतः योगियों की भक्ति के प्रति अधिक रुचि नहीं होती। वे तो प्राणायाम को ही नियमित करना चाहते हैं। यह मात्र शारीरिक व्यापार है। यहाँ पर ध्रुव महाराज स्पष्ट कहते हैं कि भक्त को शरीर के प्रति कोई रुचि नहीं रहती। वह जानता रहता है कि वह शरीर नहीं है। अतः प्रारम्भ से ही वह आसन करने में समय न गँवाकर शुद्ध भक्त की खोज करके उसकी संगति करता है और आत्म-चेतना में योगी से आगे निकल जाता है। चूँकि भक्त जानता है कि वह शरीर नहीं है, अतः वह शारीरिक सुख अथवा दुख से प्रभावित नहीं होता। वह स्त्री, सन्तान, घर, सम्पत्ति इत्यादि से किसी प्रकार का शारीरिक सम्बन्ध नहीं रखता और न इनसे मिलनेवाले सुख अथवा दुख में रुचि रखता है। भक्त होने का यही विशेष लाभ है। जीवन की यह अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब कोई व्यक्ति शुद्ध भक्त की जो भगवान् के चरणकमलों की सुगन्धि कर सदैव आनन्द उठाता है, संगति करने के लिए इच्छुक होता है।

तिर्यङ्गद्विजसरीसृपदेवदैत्य-

मर्त्यादिभिः परिचितं सदसद्विशेषम् ।

रूपं स्थविष्ठमज ते महदाद्यनेकं

नातः परं परम वेद्मि न यत्र वादः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तिर्यक्—पशुओं; नग—वृक्ष; द्विज—पक्षी; सरीसृप—रेंगेवाले जीव; देव—देवता; दैत्य—असुर; मर्त्य—आदिभिः—मनुष्यों इत्यादि के द्वारा.; परिचितम्—परिव्याप्त; सत्-असत्-विशेषम्—प्रकट तथा अप्रकट योनियों द्वारा; रूपम्—रूप; स्थविष्ठम्—स्थूल विश्व का; अज—हे अजन्मा; ते—तुम्हारा; महत्-आदि—सम्पूर्ण भौतिक शक्ति से उत्पन्न.; अनेकम्—अनेक कारण; न—नहीं; अतः—इससे; परम्—दिव्य; परम—हे परम; वेद्मि—जानता हूँ; न—नहीं; यत्र—जहाँ; वादः—विभिन्न तर्क।

हे भगवन्, हे परम अजन्मा, मैं जानता हूँ कि जीवात्माओं की विभिन्न योनियाँ, यथा पशु, पक्षी, रेंगेवाले जीव, देवता तथा मनुष्य सारे ब्रह्माण्ड में फैली हुई हैं, जो समग्र भौतिक शक्ति से उत्पन्न हैं। मैं यह भी जानता हूँ कि ये कभी प्रकट रूप में रहती हैं, तो कभी अप्रकट रूप में, किन्तु मैंने ऐसा परम रूप कभी नहीं देखा जैसा कि अब आप का देख रहा हूँ। अब किसी भी सिद्धान्त के बनाने की आवश्यकता नहीं रह गई है।

तात्पर्य : भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि वे ब्रह्माण्ड भर में व्याप्त हैं किन्तु यद्यपि प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर टिकी है, तो भी वे पृथक् रहते हैं। उसी विचार को यहाँ पर ध्रुव महाराज ने व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि भगवान् के दिव्य रूप को देखने के पूर्व वे केवल भौतिक रूपों की किस्मों से, जिनकी संख्या चौरासी लाख है, परिचित थे। तथ्य तो यह है कि जब तक भगवान् की भक्ति नहीं की जाती, तब तक भगवान् के अनन्तिम रूप को नहीं समझा जा सकता। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (१८.५५) में भी हुई है। भक्त्या माम् अभिजानाति—भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से परम सत्य परमेश्वर को ठीक से नहीं जाना जा सकता।

यहाँ पर ध्रुव महाराज अपने ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था की तुलना परमेश्वर की उपस्थिति में ज्ञान की पूर्णता से करते हैं। जीवात्मा का काम सेवा करना है। जब तक वह भगवान् को जान लेने की स्थिति में नहीं आ जाता, तब तक वह नाना प्रकार के वृक्षों, सरीसृपों, पशुओं, मनुष्यों, देवताओं इत्यादि की सेवा में लगा रहता है। आम अनुभव यह है कि कोई मनुष्य कुत्ते की सेवा करता है, तो कोई पौधे तथा लताओं की सेवा करता है, कोई देवताओं की सेवा करता है, तो कोई मानवता की अथवा अपने दफ्तर के अधिकारी की, किन्तु कोई भी कृष्ण की सेवा नहीं करता है। सामान्य जन को छोड़ भी दे, आध्यात्मिक ज्ञान में ऊपर उठे हुए व्यक्ति भी अधिक से अधिक विराट् रूप की सेवा में लगे रहते हैं, अथवा भगवान् के परम रूप को न समझ सकने के कारण ध्यान के द्वारा शून्यवाद की पूजा करते हैं। तथापि ध्रुव महाराज को तो परमेश्वर का आशीर्वाद मिल गया था। जब भगवान् ने उनके

मस्तक पर अपना शंख छुवाया तो वास्तविक ज्ञान अन्तःकरण से प्रकट हुआ और ध्रुव महाराज भगवान् के दिव्य रूप को समझ सके। यहाँ पर ध्रुव महाराज स्वीकार करते हैं कि वे न केवल अज्ञानी ही थे, वरन् उम्र में भी बालक थे। यदि भगवान् ने उनको आशीर्वाद न दिया होता तो अबोध बालक के लिए भगवान् के परम रूप को पहचान पाना सम्भव न हो पाता।

कल्पान्त एतदखिलं जठरेण गृह्णन्
 शेते पुमान्स्वदृगनन्तसखस्तदङ्गे ।
 यन्नाभिसिन्धुरुहकाञ्चनलोकपद्म-
 गर्भे द्युमान्भगवते प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

कल्प-अन्ते—कल्प के अन्त में; एतत्—यह ब्रह्माण्ड; अखिलम्—समस्त; जठरेण—उदर के भीतर; गृह्णन्—ले करके; शेते—लेटा रहता है; पुमान्—परम पुरुष; स्व-दृक्—अपने आपको देखता हुआ; अनन्त—अनन्त जीव शेष; सखः—के साथ; तत्-अङ्गे—उसकी गोद में; यत्—जिसकी; नाभि—नाभि से; सिन्धु—सागर; रुह—उगा हुआ; काञ्चन—सुनहला; लोक—लोक; पद्म—कमल के; गर्भे—पुष्प पुंज में; द्युमान्—भगवान् ब्रह्मा; भगवते—भगवान् को; प्रणतः—नमस्कार करता; अस्मि—हूँ; तस्मै—उसको।

हे भगवन्, प्रत्येक कल्प के अन्त में भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु ब्रह्माण्ड में दिखाई पड़नेवाली प्रत्येक वस्तु को अपने उदर में समाहित कर लेते हैं। वे शेषनाग की गोद में लेट जाते हैं, उनकी नाभि से एक डंठल में से सुनहला कमल-पुष्प फूट निकलता है और इस कमल-पुष्प पर ब्रह्माजी उत्पन्न होते हैं। मैं समझ सकता हूँ कि आप वही परमेश्वर हैं। अतः मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज का भगवान् सम्बन्धी ज्ञान पूर्ण था। वेदों में कहा गया है—*यस्मिन् विज्ञाते सर्वमेवं विज्ञातं भवति*—भगवान् की दिव्य अहैतुकी कृपा से प्राप्त ज्ञान इतना पूर्ण होता है कि भक्तगण उसी ज्ञान से भगवान् की विभिन्न सृष्टियों से परिचित हो जाते हैं। ध्रुव महाराज के समक्ष क्षीरोदकशायी विष्णु उपस्थित थे। वे भगवान् के अन्य दो रूपों—गर्भोदकशायी विष्णु तथा कारणोदकशायी (महा) विष्णु को भी समझ सकते थे। महाविष्णु के सम्बन्ध में *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) का कथन है—

यस्यैकनिश्चितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः ।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

प्रत्येक कल्प के अन्त में जब समस्त लोकों का लय हो जाता है, तो प्रत्येक वस्तु गर्भोदकशायी विष्णु के शरीर में प्रवेश करती है, जो भगवान् के ही अन्य रूप शेषनाग की गोद में शयन करते हैं।

जो भक्त नहीं हैं, वे विष्णु के विभिन्न रूपों तथा सृष्टि के प्रति उनकी स्थितियों के विषय में कुछ नहीं समझ सकते। कभी-कभी नास्तिक लोग तर्क करते हैं, “भला गर्भोदकशायी विष्णु की नाभि से पुष्पदण्ड किस प्रकार फूट कर निकल सकता है?” वे शास्त्रों के सभी वचनों को कहानी मानते हैं। परम सत्य के विषय में अनुभवहीन होने तथा प्रमाण को स्वीकार करने में हिचक के कारण वे अधिकाधिक नास्तिक बनते जाते हैं; वे भगवान् को नहीं समझ पाते। किन्तु ध्रुव महाराज जैसा भक्त भगवत्कृपा से भगवान् के विभिन्न रूपों एवं उनके पदों को जानता रहता है। कहा जाता है कि जिस पर तनिक भी भगवत्कृपा होती है, वह उनकी महिमा को समझ सकता है, अन्य लोग परम सत्य के विषय में चिन्तन करते रहते हैं किन्तु वे भगवान् को नहीं समझ पाते हैं। दूसरे शब्दों में, जब तक मनुष्य किसी भक्त के सम्पर्क में नहीं आता, तब तक वह दिव्य रूप या आध्यात्मिक जगत तथा इसके दिव्य कार्यकलापों को नहीं समझ सकता।

त्वं नित्यमुक्तपरिशुद्धविबुद्ध आत्मा

कूटस्थ आदिपुरुषो भगवांस्त्र्यधीशः ।

यद्बुद्धयवस्थितिमखण्डितया स्वदृष्ट्या

द्रष्टा स्थितावधिमखो व्यतिरिक्त आस्से ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; नित्य—शाश्वत; मुक्त—मुक्त; परिशुद्ध—विशुद्ध; विबुद्धः—ज्ञान से पूर्ण; आत्मा—परमात्मा; कूट-स्थः—परिवर्तनरहित; आदि—मूल; पुरुषः—पुरुष; भगवान्—छह ऐश्वर्यों से पूर्ण, भगवान्; त्रि-अधीशः—तीनों गुणों के स्वामी; यत्—जहाँ से; बुद्धि—बौद्धिक कार्यों का; अवस्थितिम्—समस्त अवस्थाएँ; अखण्डितया—अखंडित, पूर्ण; स्व-दृष्ट्या—दिव्य दृष्टि द्वारा; द्रष्टा—साक्षी; स्थितौ—(ब्रह्माण्ड) के पालनार्थ; अधिमखः—समस्त यज्ञों के भोक्ता; व्यतिरिक्तः—भिन्न-भिन्न प्रकार से; आस्से—स्थित हो।

हे भगवान्, अपनी अखंड दिव्य चितवन से आप बौद्धिक कार्यों की समस्त अवस्थाओं के परम साक्षी हैं। आप शाश्वत-मुक्त हैं, आप शुद्ध सत्व में विद्यमान रहते हैं और अपरिवर्तित रूप में परमात्मा में विद्यमान हैं। आप छह ऐश्वर्यों से युक्त आदि भगवान् हैं और भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के शाश्वत स्वामी हैं। इस प्रकार आप सामान्य जीवात्माओं से सदैव भिन्न रहते हैं। विष्णु

रूप में आप सारे ब्रह्माण्ड के कार्यों का लेखा-जोखा रखते हैं, तो भी आप पृथक् रहते हैं और समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं।

तात्पर्य : भगवान् की सर्वसत्ता के विरुद्ध नास्तिकों का तर्क है कि यदि ईश्वर प्रकट और अन्तर्धान होता है और सोता तथा जगता है, तो फिर जीवात्मा तथा ईश्वर में अन्तर ही क्या है? यहाँ पर ध्रुव महाराज जीवात्मा तथा भगवान् के अस्तित्व का अन्तर सावधानी पूर्वक बता रहे हैं। वे इस प्रकार के अन्तर बतला रहे हैं—भगवान् शाश्वत मुक्त हैं। वे जब भी इस भौतिक जगत में प्रकट होते हैं, तो वे कभी भी प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा बँधते नहीं। अतः वे *त्रिधीश* कहलाते हैं जिसका अर्थ है तीनों गुणों के स्वामी। *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा गया है—*दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया*—समस्त जीवात्माएँ प्रकृति के तीनों गुणों से बँधी हुई हैं। भगवान् की बहिरंगा शक्ति अत्यन्त प्रबल है, किन्तु तीन गुणों के स्वामी स्वरूप भगवान् इन गुणों की क्रिया-प्रतिक्रिया से सदैव मुक्त रहते हैं। अतः वे विशुद्ध हैं, जैसाकि *ईशोपनिषद्* में कहा गया है। भौतिक जगत के कल्मष का परमेश्वर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मूर्ख और धूर्त हैं, वे मुझे सामान्य मनुष्य समझते हैं क्योंकि वे मेरे *परं भावम्* को नहीं जानते। *परं भावम्* का अर्थ है कि वे सदैव दिव्यपद पर स्थित रहते हैं। उन्हें भौतिक कल्मष नहीं व्यापता।

भगवान् एवं जीवात्मा का अन्य अन्तर यह है कि जीवात्मा सदैव अंधकार में रहता है। भले ही वह सतोगुण में स्थित हो, किन्तु तो भी वह अनेक बातों से अनजान रहता है। किन्तु परमेश्वर के साथ ऐसा नहीं है। वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के बारे में तथा प्रत्येक जीव के हृदय में जो कुछ घटता है उसको जानने वाले हैं। *भगवद्गीता* इसकी पुष्टि करती है (*वेदाहं समतीतानि*)। भगवान् आत्मा के अंश नहीं, वे अक्षर परमात्मा हैं जब कि जीवात्माएँ उनके भिन्नांश हैं। जीवात्मा दैवमाया के निर्देश से इस जगत में प्रकट होने के लिए बाध्य है, किन्तु जब भगवान् को प्रकट होना होता है, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति अथवा *आत्म-माया* से प्रकट होते हैं। इसके अतिरिक्त, जीवात्मा का भूत, वर्तमान तथा भविष्य काल होता है। उसके जीवन का प्रारम्भ होता है—उसका जन्म होता है और बढ़ अवस्था में उसके जीवन का अन्त मृत्यु से आता है। किन्तु भगवान् तो आदिपुरुष हैं। *ब्रह्म-संहिता* में ब्रह्मा इन

आदिपुरुष गोविन्द को नमस्कार करते हैं जिनका कोई आदि नहीं है, जबकि इस भौतिक सृष्टि का आदि है। वेदान्त कहता है—*जन्माद्यस्य यतः*—प्रत्येक वस्तु परमेश्वर से उत्पन्न है, किन्तु इनका जन्म नहीं होता। वे छहों ऐश्वर्यों से युक्त हैं, अद्वितीय हैं, प्रकृति के स्वामी हैं, उनकी बुद्धि किसी भी परिस्थिति में खण्डित नहीं होती और समस्त सृष्टि के पालनकर्ता होकर भी वे पृथक् रहने वाले हैं। जैसाकि वेदों में (*कठ उपनिषद् २.२.१३*) कहा गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*। भगवान् परम पालनकर्ता हैं। जीवात्माएँ यज्ञ द्वारा उनकी सेवा के निमित्त हैं क्योंकि वे समस्त यज्ञों के फलों के वैध भोक्ता हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अपने जीवन, धन, बुद्धि तथा वचनों से उनकी भक्ति में लगे। जीवात्माओं की यह मूल स्वाभाविक स्थिति है। सामान्य जीवात्मा की निद्रा की तुलना कारणार्णव में भगवान् के शयन से नहीं की जा सकती। किसी भी स्थिति में जीवात्मा की तुलना परम पुरुष से नहीं की जा सकती। मायावादी दार्शनिक समझौता न कर सकने के कारण शून्यवाद या निर्गुणवाद के निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं।

यस्मिन्विरुद्धगतयो ह्यनिशं पतन्ति
विद्यादयो विविधशक्तय आनुपूर्व्यात् ।
तद्ब्रह्म विश्वभवमेकमनन्तमाद्य-
मानन्दमात्रमविकारमहं प्रपद्ये ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; विरुद्ध-गतयः—विरोधी स्वभाव का; हि—निश्चय ही; अनिशम्—सदैव; पतन्ति—प्रकट हैं; विद्या-
आदयः—ज्ञान तथा अविद्या इत्यादि.; विविध—विभिन्न; शक्तयः—शक्तियाँ; आनुपूर्व्यात्—सतत; तत्—उस; ब्रह्म—ब्रह्म;
विश्व-भवम्—भौतिक उत्पत्ति का कारण; एकम्—एक; अनन्तम्—अपार; आद्यम्—आदि; आनन्द-मात्रम्—केवल
आनन्दमय; अविकारम्—अपरिवर्तित; अहम्—मैं; प्रपद्ये—नमस्कार करता हूँ।

हे भगवन्, ब्रह्म के आप के निर्गुण प्राकट्य में सदैव दो विरोधी तत्त्व रहते हैं—ज्ञान तथा अविद्या। आपकी विविध शक्तियाँ निरन्तर प्रकट होती हैं, किन्तु निर्गुण ब्रह्म, जो अविभाज्य, आदि, अपरिवर्तित, असीम तथा आनन्दमय है, भौतिक जगत का कारण है। चूँकि आप वही निर्गुण ब्रह्म हैं, अतः मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि असीम निर्गुण ब्रह्म गोविन्द के दिव्य शरीर का तेज है। इस असीम तेजमण्डल में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो विभिन्न कोटि के असंख्यों लोकों से युक्त हैं। यद्यपि

परम पुरुष सब कारणों के मूल कारण हैं, किन्तु उनका निर्गुण तेज, जिसे ब्रह्म कहा जाता है, भौतिक जगत का तत्कालिक कारण है। अतः ध्रुव महाराज ने भगवान् के निर्गुण रूप को नमस्कार किया। जो निर्गुण स्वरूप का अनुभव करता है, वह अपरिवर्तनीय *ब्रह्मानन्द* का उपभोग करता है, जिसे यहाँ पर *आत्म-आनन्द* कहा गया है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि यह निर्गुण रूप या ब्रह्म का स्वरूप उन व्यक्तियों के लिए है, जो अत्यन्त ज्ञानी हैं, किन्तु व्यक्तिगत स्वरूपों या आध्यात्मिक जगत की विभिन्नता को नहीं समझ पाते। ऐसे भक्त *ज्ञान-मिश्र भक्त* कहलाते हैं, अर्थात् उनकी भक्ति के साथ अनुभवगम्य ज्ञान मिश्रित रहता है। चूँकि निर्गुण ब्रह्म का बोध परम सत्य का आंशिक ज्ञान है, अतः ध्रुव महाराज सादर नमस्कार करते हैं।

कहा जाता है कि निर्गुण ब्रह्म परम सत्य का दूरस्थ साक्षात्कार है। यद्यपि ऊपर से ब्रह्म शक्तिशून्य प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः *विद्या* तथा *अविद्या* के अन्तर्गत इसमें कई शक्तियाँ कार्यशील रहती हैं। इन्हीं शक्तियों के कारण विद्या तथा अविद्या निरन्तर प्रकट होती हैं। *ईशोपनिषद्* में विद्या तथा अविद्या का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। कहा गया है कि कभी-कभी अविद्या के कारण मनुष्य परम सत्य को पूर्णतः निर्गुण मान लेता है, किन्तु वास्तव में भक्ति के विकास के साथ ही निर्गुण तथा सगुण बोध का विकास होता रहता है। हमारी भक्ति जितनी विकसित होती है उतने ही हम परम सत्य के पास पहुँचते हैं, जब कि प्रारम्भ में दूरी अधिक होने के कारण वही निर्गुण प्रतीत होता है।

सामान्यतः लोग अविद्या शक्ति अथवा माया के वश में होने से न तो ज्ञान से युक्त होते हैं, न भक्ति से। किन्तु जब मनुष्य ज्ञानी बन जाता है, तो वह *ज्ञान-मिश्र-भक्त* की श्रेणी में पहुँच जाता है, अर्थात् उसका प्रेम ज्ञानमिश्रित होता है। जब वह कुछ आगे बढ़ता है, तो उसे बोध होता है कि परम सत्य अनेक शक्तियों से सम्पन्न एक पुरुष है। विद्वान् भक्त ही भगवान् तथा उनकी सृजन शक्ति को समझ सकता है। ज्यों ही वह परम सत्य की सृजन शक्ति को स्वीकार कर लेता है, त्योंही श्रीभगवान् के छहों ऐश्वर्य भी समझ में आ जाते हैं। जो भक्त इससे भी आगे बढ़े हुए हैं और पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हैं, वे भगवान् का दिव्य आनन्द उठा सकते हैं। इस प्रसंग में विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने एक उदाहरण दिया

है, जो लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हुए एक मनुष्य का है। ज्यों-ज्यों वह पास आता है त्यों-त्यों वह लक्ष्य को दूरी से वैसे ही देखता है जैसे हम किसी शहर को दूरी से देखते हैं। उस समय उसे लगता है कि शहर दूर स्थित है, किन्तु वह ज्यों-ज्यों पास आता जाता है उसे मीनारें तथा झंडे दिखाई पड़ने लगते हैं। जब वह शहर के भीतर प्रवेश करता है, तो उसे विभिन्न मार्ग, वाटिकाएँ, सरोवर, बाजार तथा व्यापारी दिखाई पड़ते हैं। उसे सिनेमाघर तथा नाचते और उल्लास मनाते लोग मिलते हैं। इस प्रकार शहर के भीतर जाकर और स्वयं शहर के कार्यकलापों को देखकर वह सन्तुष्ट हो जाता है।

सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-

माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः ।

अध्येवमर्यं भगवान्परिपाति दीनान्

वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सत्य—वास्तविक; आशिषः—अन्य आशीर्वादों (वरों) की तुलना में; हि—निश्चय ही; भगवन्—हे भगवन्; तव—तुम्हारा; पाद-पद्मम्—चरणकमल; आशीः—वर; तथा—उस प्रकार से; अनुभजतः—भक्तों के लिए; पुरुष-अर्थ—जीवन के वास्तविक लक्ष्य का; मूर्तेः—साक्षात्; अपि—यद्यपि; एवम्—इस प्रकार; अर्यं—हे श्रेष्ठ; भगवान्—श्रीभगवान्; परिपाति—पालन करता है; दीनान्—दीनों का; वाश्रा—गाय; इव—के समान; वत्सकम्—बछड़े को; अनुग्रह—कृपा करने के लिए; कातरः—उत्सुक; अस्मान्—मुझ पर।

हे भगवन्, हे परमेश्वर, आप सभी वरों के परम साक्षात् रूप हैं, अतः जो बिना किसी कामना के आपकी भक्ति पर दृढ़ रहता है, उसके लिए राजा बनने तथा राज करने की अपेक्षा आपके चरण-कमलों की रज श्रेयस्कर है। आपके चरणकमल की पूजा का यही वरदान है। आप अपनी अहैतुकी कृपा से मुझ जैसे अज्ञानी भक्त के लिए पूर्ण परिपालक हैं, जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े को दूध पिलाती है और हमले से उसकी रक्षा करके उसकी देखभाल करती है।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज को अपनी भक्ति के दोष का पता था। शुद्ध भक्ति का कोई भौतिक रूप नहीं होता और वह सकाम कर्मों अथवा मानसिक चिन्तन द्वारा पूरी नहीं होती। इसीलिए शुद्ध भक्ति अहैतुकी कहलाती है। ध्रुव महाराज जानते थे कि वे भक्ति में भगवान् की पूजा करने सोद्देश्य आये हैं—वे अपने पिता का राज्य चाहते थे। ऐसा मिश्रित भक्त कभी-कभी श्रीभगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकता। अतः वे भगवान् की अहैतुकी कृपा के लिए परम कृतज्ञ थे। भगवान् इतने कृपालु हैं कि वे

अविद्या के वशीभूत कृपा तथा भौतिक लाभ के इच्छुक भक्तों की समस्त कामनाओं को तो पूरा करते ही हैं, साथ ही भक्त की सभी प्रकार से रक्षा करते हैं, जिस प्रकार गाय नवजात बछड़े को दूध पिलाती है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् अपनी भक्ति में लगे हुए भक्तों को बुद्धि प्रदान करते हैं जिससे वे बिना कठिनाई के इन तक पहुँच सकें। भक्तों को भक्ति के प्रति अत्यन्त निष्ठावान होना चाहिए। फिर चाहे भक्त में कितने ही दोष क्यों न हों, श्रीकृष्ण उसे मार्गदर्शन करते हुए भक्ति के उच्च पद तक पहुँचा देंगे।

ध्रुव महाराज ने यहाँ पर भगवान् को *पुरुषार्थ मूर्ति* कहा है, जिसका अर्थ है जीवन का चरम उद्देश्य। सामान्य रूप से *पुरुषार्थ* का अर्थ है भौतिक वर प्राप्त करने के लिए धर्म या भगवान् की पूजा करना। भौतिक वरदान प्राप्त करने के लिए प्रार्थना इसलिए की जाती है कि इन्द्रियों की तुष्टि हो सके और जब मनुष्य निराश हो जाता है और लाख प्रयत्न के बाद भी अपनी इन्द्रियतुष्टि नहीं कर पाता तो वह मुक्ति की कामना करता है। ये कार्य सामान्यतः *पुरुषार्थ* कहलाते हैं। किन्तु वास्तविक चरम उद्देश्य तो भगवान् को समझना है। यह *पञ्चम पुरुषार्थ* कहलाता है। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने शिक्षा दी है कि मनुष्य को भगवान् से भौतिक सम्पत्ति, ख्याति या सुपत्नी जैसे वरदान नहीं माँगने चाहिए, उसे तो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगे रहने की प्रार्थना करनी चाहिए। ध्रुव महाराज अपनी भौतिक लाभ की इच्छाओं से अवगत थे, अतः भगवान् का संरक्षण चाह रहे थे जिससे वे भौतिक इच्छाओं के कारण भक्ति से विपथ न हो सकें।

मैत्रेय उवाच

अथाभिष्टुत एवं वै सत्सङ्कल्पेन धीमता ।

भृत्यानुरक्तो भगवान्प्रतिनन्द्येदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; अथ—तब; अभिष्टुतः—पूजा किये जाने पर; एवम्—इस प्रकार; वै—निश्चय ही; सत्-सङ्कल्पेन—ध्रुव महाराज द्वारा, जिनके हृदय में उत्तम आकाशाएँ थीं; धी-मता—अत्यधिक बुद्धिमान होने से; भृत्य-अनुरक्तः—भक्त के प्रति अनुकूल; भगवान्—भगवान् ने; प्रतिनन्द्य—उसको बधाई देकर; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा : हे विदुर, जब सद्विचारों से पूर्ण अन्तःकरण वाले ध्रुव महाराज ने अपनी प्रार्थना समाप्त की तो अपने भक्तों तथा दासों पर अत्यन्त दयालु भगवान् ने उन्हें बधाई दी

और इस प्रकार कहा।

श्रीभगवानुवाच

वेदाहं ते व्यवसितं हृदि राजन्यबालक ।

तत्प्रयच्छामि भद्रं ते दुरापमपि सुव्रत ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; वेद—जानता हूँ; अहम्—मैं; ते—तुम्हारा; व्यवसितम्—दृढ संकल्प; हृदि—हृदय के भीतर; राजन्य-बालक—हे राजा के पुत्र; तत्—वह; प्रयच्छामि—तुम्हें दूँगा; भद्रम्—समस्त कल्याण; ते—तुमको; दुरापम्—यद्यपि प्राप्त करना कठिन है, दुर्लभ; अपि—तो भी; सु-व्रत—जिसने पवित्र व्रत धारण कर रखा है।

भगवान् ने कहा : हे राजपुत्र ध्रुव, तुमने पवित्र व्रतों का पालन किया है और मैं तुम्हारी आन्तरिक इच्छा भी जानता हूँ। यद्यपि तुम अत्यन्त महत्वाकांक्षी हो और तुम्हारी इच्छा को पूरा कर पाना कठिन है, तो भी मैं उसे पूरा करूँगा। तुम्हारा कल्याण हो।

तात्पर्य : भगवान् अपने भक्त के प्रति इतने दयालु होते हैं कि उन्होंने ध्रुव महाराज से तुरन्त कहा कि तुम्हारा कल्याण हो। वास्तव में भक्त ध्रुव मन ही मन अत्यन्त भयभीत थे, क्योंकि भक्ति करते हुए उन्होंने भौतिक लाभ की कामना की थी जिसके कारण ईश्वर प्रेम की अवस्था तक पहुँचने में उन्हें बाधा हो रही थी। *भगवद्गीता* (२.४४) में कहा गया है—*भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्*—जो लोग भौतिक सुख के प्रति आसक्त हैं, वे भक्ति की ओर आकर्षित नहीं हो सकते। यह तो सच है कि ध्रुव महाराज हृदय से ऐसा राज्य चाह रहे थे, जो ब्रह्मलोक से भी श्रेष्ठ हो। एक क्षत्रिय की यह स्वाभाविक आकांक्षा होती है। ध्रुव केवल पाँच वर्ष के बालक थे, अतः लड़कपन के कारण वे अपने पिता तथा परपितामह से भी बड़े साम्राज्य की आकांक्षा कर रहे थे। उनके पिता उत्तानपाद मनु के पुत्र थे और मनु ब्रह्मा के पुत्र थे। ध्रुव इन पारिवारिक सदस्यों से आगे बढ़ जाना चाह रहे थे। भगवान् को ध्रुव की नादान आकांक्षा का पता था, तो फिर उन्हें किस प्रकार ब्रह्मा से भी उच्च पद प्रदान किया जा सका ?

भगवान् ने ध्रुव महाराज को आश्चस्त किया कि वे भगवत्प्रेम से विलग नहीं होंगे। उन्होंने ध्रुव को इस बात की चिन्ता न करने के लिए कहा कि भौतिक आकांक्षाओं के साथ ही वे महान् भक्त बनने की भी महत्वाकांक्षा रखते थे। सामान्यतः भगवान् शुद्ध भक्त को भौतिक ऐश्वर्य नहीं प्रदान करते, भले ही वह उसके लिए इच्छुक हो। लेकिन ध्रुव का मामला भिन्न था। भगवान् जान रहे थे कि वह इतना बड़ा

भक्त है कि ऐश्वर्य के होने पर भी वह भगवत्प्रेम से विचलित नहीं होगा। इस उदाहरण से यह सिद्ध हो जाता है कि अत्यन्त योग्य भक्त भौतिक सुख की सुविधा के साथ ही भगवत्प्रेम भी कर सकता है। किन्तु यह एक विशेष दशा थी।

नान्यैरधिष्ठितं भद्र यद्भ्राजिष्णु ध्रुवक्षिति
यत्र ग्रहर्क्षताराणां ज्योतिषां चक्रमाहितम् ।
मेढ्यां गोचक्रवत्स्थासु परस्तात्कल्पवासिनाम् ॥ २० ॥
धर्मोऽग्निः कश्यपः शुक्रो मुनयो ये वनौकसः ।
चरन्ति दक्षिणीकृत्य भ्रमन्तो यत्सतारकाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्यैः—अन्यों के द्वारा; अधिष्ठितम्—शासित; भद्र—मेरे अच्छे बालक; यत्—जो; भ्राजिष्णु—देदीप्यमान; ध्रुव-क्षिति—ध्रुवलोक नामक स्थान; यत्र—जहाँ; ग्रह—ग्रह; ऋक्ष—तारापुंज; ताराणाम्—तथा तारे; ज्योतिषाम्—नक्षत्रों से; चक्रम्—चक्र; आहितम्—किया जाता है; मेढ्याम्—केन्द्रीय दण्ड के चारों ओर; गो—बैलों का; चक्र—झुंड; वत्—सदृश; स्थासु—स्थिर; परस्तात्—परे; कल्प—ब्रह्मा का एक दिन (कल्प); वासिनाम्—रहेन वालों का; धर्मः—धर्म; अग्निः—अग्नि; कश्यपः—कश्यप; शुक्रः—शुक्र; मुनयः—मुनिगण; ये—जो सभी; वन-ओकसः—जंगल में रहकर; चरन्ति—चलते हैं; दक्षिणी-कृत्य—अपनी दायीं ओर करके; भ्रमन्तः—प्रदक्षिणा लगाते हुए; यत्—जो ग्रह; सतारकाः—समस्त तारों सहित।

भगवान् ने आगे कहा : हे ध्रुव, मैं तुम्हें ध्रुव नामक देदीप्यमान ग्रह प्रदान करूँगा जो कल्पान्त में प्रलय के बाद भी अस्तित्व में रहेगा। अभी तक उस ग्रह में किसी ने राज्य नहीं किया है; तथा वह समस्त सौर मण्डल, ग्रहों तथा नक्षत्रों से घिरा हुआ है। आकाश में सभी ज्योतिष्क इसी ग्रह की प्रदक्षिणा करते हैं, जिस प्रकार कि अनाज को कूटने के लिए सारे बैल एक केन्द्रीय लट्टे के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। धर्म, अग्नि, कश्यप तथा शुक्र जैसे ऋषियों द्वारा बसाये गये सभी तारे ध्रुवतारे को अपनी दाईं ओर रखकर उसकी परिक्रमा करते हैं, जो अन्यों के विनष्ट हो जाने पर भी इसी प्रकार बना रहता है।

तात्पर्य : यद्यपि ध्रुव महाराज द्वारा अधिकार प्राप्त करने के पूर्व भी ध्रुवतारे का अस्तित्व था, किन्तु उसका कोई अधिष्ठाता देव न था। यह ध्रुवलोक, जो हमारा ध्रुवतारा है, अन्य समस्त तारों तथा सौर मण्डल का केन्द्र है, क्योंकि वे सभी नक्षत्र तथा सौरमण्डल ध्रुवलोक की उसी प्रकार प्रदक्षिणा करते हैं जिस प्रकार बैल अन्न कूटने के लिए एक मध्यवर्ती स्तम्भ के चारों ओर घूमता है। ध्रुव ने सर्वश्रेष्ठ ग्रह (लोक) चाहा था और उनकी यह इच्छा बालकों जैसी थी, फिर भी भगवान् ने उसे पूरी

कर दिया। एक छोटा बालक अपने पिता से ऐसी वस्तु माँग सकता है, जो अभी तक उसने किसी को न दी हो, किन्तु तो भी पिता प्रेमवश उसे वह वस्तु दे देता है। इसी प्रकार यह अद्वितीय ध्रुवलोक महाराज ध्रुव को प्राप्त हुआ। इस ग्रह की विशेषता है कि प्रलय हो जाने पर, यहाँ तक कि ब्रह्मा की रात्रि के समय होनेवाले प्रलय में भी, यह बना रहेगा। प्रलय दो प्रकार का होता है—एक तो ब्रह्मा की रात्रि के समय और दूसरा ब्रह्मा के जीवन के अन्त में। ब्रह्मा के जीवन के अन्त समय कुछ चुने हुए पुरुष भगवान् के धाम जाते हैं। ध्रुव महाराज उनमें से एक हैं। भगवान् ने ध्रुव को आश्चस्त किया कि वे आंशिक प्रलय के बाद भी जीवित रहेंगे। इस प्रकार पूर्ण प्रलय होने पर वे सीधे वैकुण्ठलोक चले जाएँगे। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि ध्रुवलोक श्वेतद्वीप, मथुरा तथा द्वारका जैसा एक लोक है। ये ईश्वर के राज्य के शाश्वत स्थल हैं, जिनका वर्णन भगवद्गीता (तद्धाम परमम्) तथा वेदों में (ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः) हुआ है। परस्तात् कल्प-वासिनाम् शब्दों का अर्थ, “प्रलय के बाद आबाद ग्रहों से परे” है, जो वैकुण्ठलोक का सूचक है। दूसरे शब्दों में, भगवान् ने ध्रुव महाराज को वैकुण्ठलोक भेजने का आश्वासन दे दिया।

प्रस्थिते तु वनं पित्रा दत्त्वा गां धर्मसंश्रयः ।

षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं रक्षिताव्याहतेन्द्रियः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रस्थिते—प्रस्थान के पश्चात्; तु—लेकिन; वनम्—जंगल को; पित्रा—तुम्हारे पिता द्वारा; दत्त्वा—देकर; गाम्—सम्पूर्ण जगत; धर्म-संश्रयः—धर्मपूर्वक; षट्-त्रिंशत्—छत्तीस; वर्ष—वर्ष, साल; साहस्रम्—एक हजार; रक्षिता—राज्य करोगे; व्याहते—बिना नाश के; इन्द्रियः—इन्द्रियों की शक्ति।

जब तुम्हारे पिता तुम्हें अपने राज्य का शासन देकर जंगल के लिए प्रस्थान करेंगे तो तुम लगातार छत्तीस हजार वर्षों तक सारे संसार पर राज्य करोगे और तुम्हारी सारी इन्द्रियाँ उतनी ही शक्तिशाली बनी रहेंगी जितनी कि वे आज हैं। तुम कभी वृद्ध नहीं होगे।

तात्पर्य : सत्ययुग में लोग प्रायः एक लाख वर्ष तक जीवित रहते थे। उन दिनों ध्रुव महाराज का छत्तीस हजार वर्षों तक राज्य करना नितान्त सम्भव था।

त्वद्भ्रातर्युत्तमे नष्टे मृगयायां तु तन्मनाः ।

अन्वेषन्ती वनं माता दावाग्निं सा प्रवेक्ष्यति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

त्वत्—तुम्हारा; भ्रातरि—भ्राता; उत्तमे—उत्तम; नष्टे—मारे जाने पर; मृगयायाम्—शिकार में; तु—तब; तत्-मनाः—अत्यन्त शोकाकुल; अन्वेषन्ती—ढूँढते हुए; वनम्—जंगल में; माता—माता; दाव-अग्निम्—जंगल की अग्नि में; सा—वह; प्रवेक्ष्यति—प्रवेश करेगी।

भगवान् ने आगे कहा : निकट भविष्य में तुम्हारा भाई उत्तम जंगल में शिकार करने जाएगा और जब वह शिकार में मग्न रहेगा तो मार डाला जाएगा। तुम्हारी विमाता सुरुचि अपने पुत्र की मृत्यु से पागल होकर उसकी खोज करने जंगल में जाएगी, किन्तु वहाँ वह दावाग्नि में मारी जाएगी।

तात्पर्य : ध्रुव महाराज जंगल में भगवान् की खोज करने आये थे और उनके मन में अपनी विमाता से प्रतिशोध लेने की भावना थी। विमाता ने ध्रुव का अपमान किया था, जो कोई सामान्य व्यक्ति न थे, वरन् एक महान् वैष्णव थे। एक वैष्णव के चरणकमलों के प्रति किया गया अपराध संसार में सबसे बड़ा अपराध है। ध्रुव महाराज का अपमान करने के कारण सुरुचि अपने पुत्र की मृत्यु के शोक से पागल होगी और दावाग्नि में प्रवेश करेगी जिससे उसका जीवन समाप्त हो जाएगा। इसका विशेष उल्लेख भगवान् ने ध्रुव से किया था, क्योंकि वे अपनी विमाता से प्रतिशोध लेने पर दृढ़ थे। इससे हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि भूलकर भी हम किसी वैष्णव को अपमानित न करें। हमें न केवल किसी वैष्णव का ही वरन् किसी का भी बिना कारण के अपमान नहीं करना चाहिए। जब सुरुचि ने ध्रुव महाराज का अपमान किया था, तो वे एक नन्हें से बालक थे। निस्सन्देह, उसे पता न था कि ध्रुव एक जाने-माने वैष्णव थे, अतः उसने अनजाने में अपराध किया था। जब कोई अनजान में किसी वैष्णव की सेवा करता है, तो भी उसका फल अच्छा होता है। श्रीभगवान् वैष्णव का विशेष पक्षपात करते हैं। वैष्णव को प्रसन्न या अप्रसन्न करने से परमेश्वर की प्रसन्नता तथा नाराजगी पर प्रभाव पड़ता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपने गुरु की अष्टपदी प्रार्थना में कहा है—*यस्य प्रसादाद् भगवत् प्रसादः*—मनुष्य द्वारा शुद्ध वैष्णव रूप गुरु को प्रसन्न करने पर परमेश्वर प्रसन्न होता है, किन्तु यदि वह गुरु को नाराज कर दे तो पता नहीं उसका क्या होगा।

इष्ट्वा मां यज्ञहृदयं यज्ञैः पुष्कलदक्षिणैः ।

भुक्त्वा चेहाशिषः सत्या अन्ते मां संस्मरिष्यसि ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

इष्ट्वा—पूजा करके; माम्—मुझको; यज्ञ-हृदयम्—समस्त यज्ञों का हृदय; यज्ञैः—महान् यज्ञों से; पुष्कल-दक्षिणैः—प्रभूत दान वितरित करके; भुक्त्वा—भोग करने के पश्चात्; च—भी; इह—इस संसार में; आशिषः—आशीर्वाद; सत्याः—सच, सही; अन्ते—अन्त में; माम्—मुझको; संस्मरिष्यसि—स्मरण करने में समर्थ होंगे।

भगवान् ने आगे कहा : मैं समस्त यज्ञों का हृदय हूँ। तुम अनेक बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न करोगे और प्रचुर दान भी दोगे। इस प्रकार तुम इस जीवन में भौतिक सुख के वरदान को भोग सकोगे और अपनी मृत्यु के समय तुम मेरा स्मरण कर सकोगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है भगवान् द्वारा दी गई शिक्षाएँ कि मृत्यु के समय भगवान् का स्मरण किस प्रकार किया जाये। *अन्ते नारायण स्मृतिः*—आध्यात्मिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए हम जो भी करते हैं उसका फल सार्थक होता है, यदि हम भगवान् नारायण का स्मरण कर सकें। निरन्तर स्मरण का यह कार्यक्रम कई कारणों से भंग हो सकता है, किन्तु ध्रुव महाराज का जीवन इतना पवित्र होना था कि वे भगवान् को कभी भूल नहीं सकेंगे। अतः वे मृत्यु के समय परमेश्वर का स्मरण करेंगे और मृत्यु के पूर्व इस भौतिक संसार का सुखोपभोग इन्द्रियतृप्ति द्वारा नहीं, अपितु बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न करके करेंगे। जैसाकि वेदों में उल्लेख है, जब कोई मनुष्य बड़े-बड़े यज्ञ करता है, तो उसे न केवल ब्राह्मणों को दान देना चाहिए, बल्कि क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों को भी देना चाहिए। यहाँ यह विश्वास व्यक्त किया गया है कि ध्रुव महाराज ऐसे कार्य करते रहेंगे। किन्तु इस कलियुग में जो सबसे बड़ा यज्ञ किया जा सकता है, वह *संकीर्तन यज्ञ* है। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को (तथा हम सबको) भगवान् का सही आदेश सिखाने के लिए चलाया गया है। इस प्रकार हम निरन्तर *संकीर्तन यज्ञ* करते रहेंगे और हरे कृष्ण मंत्र का जप करते रहेंगे। तब मृत्यु के समय हम अवश्य ही श्रीकृष्ण का स्मरण कर सकेंगे और हमारे जीवन का सारा कार्यक्रम सफल हो सकेगा। इस युग में दान का स्थान प्रसाद-वितरण ने ग्रहण कर लिया है। किसी के पास भी इतना धन नहीं कि उसे बाँट सके, किन्तु यदि हम यथासम्भव कृष्णप्रसाद का वितरण करें तो यह धन-वितरण की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होगा।

ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम् ।

उपरिष्ठादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; गन्ता असि—तुम जाओगे; मत्-स्थानम्—मेरे धाम को; सर्व-लोक—समस्त लोकों द्वारा; नमः-कृतम्—वन्दनीय होकर; उपरिष्ठात्—ऊपर स्थित; ऋषिभ्यः—ऋषियों के लोकों की अपेक्षा; त्वम्—तुम; यतः—जहाँ से; न—कभी नहीं; आवर्तते—वापस आओगे; गतः—वहाँ जा करके।

भगवान् ने आगे कहा : हे ध्रुव, इस देह में अपने भौतिक जीवन के पश्चात् तुम मेरे लोक को जाओगे जो अन्य समस्त लोकों के वासियों द्वारा सदैव वन्दनीय है। यह सप्त-ऋषि के लोकों के ऊपर स्थित है और वहाँ जाने के बाद तुम को इस भौतिक जगत में फिर कभी नहीं लौटना पड़ेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *नावर्तते* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भगवान् कहते हैं, “तुम इस भौतिक जगत में पुनः नहीं आओगे, क्योंकि तुम *मत्स्थानम्* अर्थात् मेरे धाम पहुँच जाओगे।” अतः इसी भौतिक जगत में ध्रुवलोक भगवान् विष्णु का धाम है। इसके ऊपर क्षीरसागर है, जिसके भीतर श्वेतद्वीप है। यह भी स्पष्ट सूचित है कि यह लोक ऋषियों के सप्त लोकों के ऊपर स्थित है और चूँकि यह विष्णु लोक है, अतः अन्य समस्त लोकों द्वारा पूजित है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रलय के समय इस ध्रुवलोक का क्या होगा? उत्तर सरल है। अन्य वैकुण्ठ लोकों की भाँति ध्रुवलोक बना रहता है। इस प्रसंग में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका है कि *निवर्तते* शब्द ही इसका सूचक है कि यह लोक शाश्वत है।

मैत्रेय उवाच

इत्यर्चितः स भगवानतिदिश्यात्मनः पदम् ।

बालस्य पश्यतो धाम स्वमगाद्गरुडध्वजः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने आगे कहा; इति—इस प्रकार; अर्चितः—सम्मानित एवं पूजित होकर; सः—परमेश्वर; भगवान्—भगवान्; अतिदिश्य—प्रदान करके; आत्मनः—अपना; पदम्—वासस्थान; बालस्य—जबकि बालक; पश्यतः—देख रहा था; धाम—उनके धाम को; स्वम्—अपनी, निजी; अगात्—वे लौट गये; गरुड-ध्वजः—भगवान् विष्णु जिनकी ध्वजा में गरुड का चिह्न है।

मैत्रेय मुनि ने कहा : बालक ध्रुव महाराज द्वारा पूजित तथा सम्मानित होकर और उन्हें अपना धाम देकर भगवान् विष्णु गरुड की पीठ पर चढ़ कर ध्रुव के देखते-देखते अपने धाम को चले गये।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि भगवान् विष्णु ने ध्रुव महाराज को अपना ही धाम दे दिया। उनके धाम का वर्णन *भगवद्गीता* (१५.६) में हुआ है— *यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।*

सोऽपि सङ्कल्पजं विष्णोः पादसेवोपसादितम् ।

प्राप्य सङ्कल्पनिर्वाणं नातिप्रीतोऽभ्यगात्पुरम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (ध्रुव); अपि—यद्यपि; सङ्कल्प-जम्—वांछित फल; विष्णोः—विष्णु का; पाद-सेवा—चरणकमल की सेवा करके; उपसादितम्—प्राप्त किया; प्राप्य—प्राप्त करके; सङ्कल्प—अपने हृदय निश्चय का; निर्वाणम्—संतुष्टि; न—नहीं; अतिप्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न; अभ्यगात्—वापस गया; पुरम्—अपने घर को।

भगवान् के चरण-कमलों की उपासना द्वारा अपने संकल्प का मनवांछित फल प्राप्त करके

भी ध्रुव महाराज अत्यधिक प्रसन्न नहीं हुए। तब वे अपने घर चले गए।

तात्पर्य : नारद मुनि के उपदेशानुसार भगवान् के चरणकमलों की भक्तिपूर्वक पूजा करके ध्रुव महाराज ने मनवांछित फल प्राप्त किया। उनकी इच्छा थी कि वे अपने पिता, दादा, परदादा से भी बढ़कर सम्मानित पद प्राप्त करें और यद्यपि यह बचकाना सा संकल्प था, क्योंकि ध्रुव महाराज एक नन्हें बालक थे, किन्तु भगवान् विष्णु इतने दयार्द्र हो उठे कि उन्होंने उनकी इच्छा पूरी कर दी। ध्रुव महाराज ऐसा उच्च वासस्थान चाहते थे कि जिसे उनके परिवार के अन्य किसी ने कभी प्राप्त न किया हो। फलतः उन्हें वह लोक प्रदान किया गया जिसमें भगवान् स्वयं निवास करते हैं और इस प्रकार उनका संकल्प पूरा हुआ। तो भी, जब ध्रुव महाराज घर लौट रहे थे तो वे अधिक प्रसन्न न थे, क्योंकि यद्यपि विशुद्ध भक्ति-भाव से भगवान् से किसी वस्तु की याचना नहीं की जाती, किन्तु उन्होंने अपने बाल-स्वभाव के कारण माँग प्रस्तुत की थी। इस प्रकार यद्यपि भगवान् ने उनकी इच्छापूर्ति की, किन्तु वे इससे अधिक प्रसन्न नहीं थे, अपितु उन्हें लज्जा लग रही थी कि भगवान् से उन्होंने जो कुछ माँगा था, वह उन्हें नहीं माँगना चाहिए था।

विदुर उवाच

सुदुर्लभं यत्परमं पदं हरे-

र्मायाविनस्तच्चरणार्चनार्जितम् ।

लब्ध्वाप्यसिद्धार्थमिवैकजन्मना

कथं स्वमात्मानममन्यतार्थवित् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने पूछा; सुदुर्लभम्—अत्यन्त दुर्लभ; यत्—जो; परमम्—परम; पदम्—पद, स्थान; हरेः—भगवान् का; माया-विनः—अत्यन्त वत्सल; तत्—उसके; चरण—चरणकमल; अर्चन—पूजन के द्वारा; अर्जितम्—उपलब्ध; लब्ध्वा—प्राप्त करके; अपि—यद्यपि; असिद्ध-अर्थम्—अपूर्ण; इव—मानो; एक-जन्मना—एक जीवन काल में; कथम्—क्यों; स्वम्—अपना; आत्मानम्—हृदय; अमन्यत—अनुभव किया; अर्थ-वित्—अत्यन्त चतुर होने से।

श्री विदुर ने पूछा : हे ब्राह्मण, भगवान् का धाम प्राप्त करना बहुत कठिन है। इसे केवल शुद्ध भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि अत्यन्त वत्सल तथा कृपालु भगवान् केवल उसी से प्रसन्न होते हैं। ध्रुव महाराज ने इस पद को एक ही जीवन में प्राप्त कर लिया और वे थे भी बहुत बुद्धिमान और विवेकी। तो फिर वे प्रसन्न क्यों न थे?

तात्पर्य : सन्त विदुर की जिज्ञासा अत्यन्त प्रासंगिक थी। इस सम्बन्ध में अर्थवित् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो उस व्यक्ति को बतानेवाला है, जो वास्तविकता तथा अवास्तविकता के बीच अन्तर करने में समर्थ हो। अर्थवित् को परमहंस भी कहते हैं। परमहंस प्रत्येक वस्तु के सार को ग्रहण करता है और जिस प्रकार हंस दूध तथा जल के मिश्रण में से दूध को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार परमहंस भी समस्त सांसारिक बाह्य वस्तुओं का परित्याग करते हुए श्रीभगवान् को ही अपना जीवन-आधार बनाता है। ध्रुव महाराज इसी कोटि के थे और अपने संकल्प से उन्होंने मनवांछित फल भी प्राप्त कर लिया था, किन्तु फिर भी जब वे घर लौट आये तो अधिक प्रसन्न न थे।

मैत्रेय उवाच

मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान्स्मरन् ।
नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं तस्मात्तापमुपेयिवान् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने उत्तर दिया; मातुः—अपनी माता की; स-पत्न्याः—सौत के; वाक्-बाणैः—कटु वचनों के तीरों से; हृदि—हृदय में; विद्धः—धँसा हुआ; तु—तब; तान्—उन सबको; स्मरन्—स्मरण करते हुए; न—नहीं; ऐच्छत्—इच्छा की; मुक्ति-पतेः—भगवान् से, जिनके चरणकमल मुक्ति प्रदाता हैं; मुक्तिम्—मोक्ष; तस्मात्—अतः; तापम्—शोक; उपेयिवान्—प्राप्त हुआ।

मैत्रेय ने उत्तर दिया : ध्रुव महाराज का हृदय, जो अपनी विमाता के कटु वचनों के बाणों से बिद्ध हो चुका था, अत्यधिक संतप्त था; अतः जब उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया, तो वे उसके दुर्व्यवहार को नहीं भूल पाये थे। उन्होंने इस भौतिक जगत से वास्तविक

मोक्ष की माँग नहीं की, वरन् अपनी भक्ति के अन्त में, जब भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए तो वे अपनी उन भौतिक याचनाओं (माँगों) के लिए लज्जित थे, जो उनके मन में थीं।

तात्पर्य : इस महत्त्वपूर्ण श्लोक की व्याख्या अनेक धुरन्धर टीकाकारों ने की है। मनवांछित जीवन उद्देश्य प्राप्त करके भी ध्रुव महाराज क्यों प्रसन्न न थे? शुद्ध भक्त सभी प्रकार की भौतिक इच्छाओं से दूर रहता है। भौतिक जगत में मनुष्य की इच्छाएँ प्रायः आसुरी होती हैं। कोई किसी को अपना शत्रु समझता है; कोई शत्रु से बदला लेने की सोचता है; कोई सर्वोच्च नेता बन जाना चाहता है, तो कोई इस जगत का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बनना चाहता है। इस प्रकार वह अन्य सबों से स्पर्धा करता है। *भगवद्गीता* के सोलहवें अध्याय में इसे आसुरी कहा गया है। शुद्ध भक्त भगवान् से कुछ भी नहीं माँगता। उसे एकमात्र यही चिन्ता रहती है कि वह निष्ठापूर्वक और गम्भीरता से भगवान् की सेवा करे। भविष्य में क्या होगा, इसकी उसे तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। *मुकुन्द माला* स्तोत्र के लेखक राजा कुलशेखर अपनी प्रार्थना में कहते हैं, “हे भगवन्! मुझे इस संसार में इन्द्रियतृप्ति वाले किसी पद की इच्छा नहीं है। मैं तो केवल आपकी सेवा में निरन्तर संलग्न रहना चाहता हूँ।” इसी प्रकार भगवान् चैतन्य ने भी अपने *शिक्षाष्टक* में प्रार्थना की है, “हे भगवन्! मुझे न तो धन की तनिक इच्छा है, न मुझे भौतिक अनुयायी चाहिए और न भोगने के लिए सुन्दर पत्नी चाहिए। मुझे तो केवल एक ही वस्तु चाहिए और वह है जन्म-जन्मांतर आपकी सेवा।” भगवान् चैतन्य ने मुक्ति तक के लिए प्रार्थना नहीं की।

इस श्लोक में मैत्रेय ने विदुर के प्रश्न का उत्तर दिया है कि ध्रुव महाराज अपनी विमाता के प्रति प्रतिशोध-भाव से प्रेरित होकर न तो मुक्ति के विषय में सोच पाये और न वे मुक्ति के सम्बन्ध में कुछ जानते थे। अतः वे मुक्ति को जीवन का उद्देश्य बना सकने में असफल रहे। किन्तु शुद्ध भक्त तो मुक्ति की कामना भी करता नहीं। उसकी आत्मा तो भगवान् में पूर्ण रूप से समर्पित रहती है, अतः वह भगवान् से कुछ भी नहीं माँगता। जब ध्रुव महाराज ने भगवान् को अपने समक्ष देखा तो वसुदेव पद को प्राप्त हो जाने से उन्हें इस स्थिति का बोध हो सका। वसुदेव पद वह अवस्था है जहाँ भौतिक कल्मष अनुपस्थित रहता है, अर्थात् जहाँ प्रकृति के तीनों गुणों—सतो, रजो तथा तमो गुणों—का प्रश्न नहीं उठता, अतः मनुष्य को भगवान् के दर्शन हो सकते हैं। चूँकि वसुदेव पद पर ईश्वर का साक्षात्कार

किया जा सकता है, अतः भगवान् को वासुदेव भी कहा जाता है।

ध्रुव महाराज तो ऐसा प्रतिष्ठित पद चाहते थे, जो उनके परदादा ब्रह्माजी भी न प्राप्त कर पाये थे। भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त के प्रति, विशेष रूप से ध्रुव महाराज जैसे भक्त के प्रति, जो पाँच वर्ष की अवस्था में तपस्या हेतु जंगल चले गये थे, इतने वत्सल एवं कृपालु हैं कि भले ही उसका मन्तव्य अशुद्ध रहे, वे उस पर विचार नहीं करते। उन्हें तो सेवा से प्रयोजन रहता है। किन्तु यदि भक्त के मन में कोई विशेष मन्तव्य रहता है, तो भगवान् उसे किसी न किसी प्रकार जान लेते हैं और भक्त की भौतिक इच्छाओं को अपूर्ण नहीं रखते। भगवान् की भक्त के प्रति ऐसी कुछ विशेष अनुकम्पाएँ होती हैं।

ध्रुव महाराज को ध्रुवलोक प्रदान किया गया, जहाँ कभी कोई बद्धजीव नहीं रहा था। यहाँ तक कि इस ब्रह्माण्ड के सर्वश्रेष्ठ प्राणी ब्रह्मा को भी ध्रुवलोक में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी गई। जब भी इस ब्रह्माण्ड में कोई संकट आ पड़ता है, तो देवतागण मिलकर क्षीरोदकशायी विष्णु भगवान् के पास जाते हैं और क्षीरसागर के तट पर खड़े हो जाते हैं। इस प्रकार ध्रुव ने जो माँग की थी—अपने परदादा ब्रह्मा से भी उच्च स्थान—वह पूरी हो गई।

इस श्लोक में भगवान् को *मुक्तिपति* कहा गया है, जिसका अर्थ है, “जिनके चरणकमलों के नीचे समस्त प्रकार की मुक्तियाँ हैं।” मुक्ति के पाँच प्रकार हैं—सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य तथा सार्ष्टि। ये पाँचों मुक्तियाँ भगवान् की भक्ति में लगे हुए किसी भी व्यक्ति द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं, किन्तु इनमें से सायुज्य मुक्ति की कामना सामान्यतः मायावादी चिन्तकों द्वारा की जाती है। वे भगवान् के निर्विशेष ब्रह्मतेज से तदाकार हो जाना चाहते हैं। कई विद्वानों की राय है कि यद्यपि सायुज्य मुक्ति की गणना, पाँच प्रकार की मुक्तियों में की जाती है, वास्तव में यह मुक्ति है नहीं, क्योंकि सायुज्य मुक्ति प्राप्त करके भी मनुष्य पुनः भौतिक जगत में आ गिरता है। इसकी जानकारी हमें *श्रीमद्भागवत* से (१०.२.३२) प्राप्त होती है, जिसमें कहा गया है *पतन्त्यधः* अर्थात् वे पुनः नीचे गिर जाते हैं। कठिन तपस्या के बाद अद्वैतवादी चिन्तक भगवान् के निर्गुण तेज में मिल जाता है, किन्तु जीवात्मा प्रेम व्यापार में सदैव पारस्परिक आदान-प्रदान चाहता है। अतः यद्यपि अद्वैतवादी चिन्तक भगवान् के तेज से मिलकर तदाकार पद को प्राप्त होता है, किन्तु भगवान् से संगति करने एवं उनकी सेवा करने की कोई

सुविधा न होने से वह पुनः भौतिक जगत में आ गिरता है और उसके सेवा-भाव की तुष्टि भौतिक कल्याणकारी क्रियाकलापों द्वारा, यथा मानवतावाद, परोपकार तथा परमार्थवाद द्वारा होती है। मायावादी विचारधारा के बड़े-बड़े संन्यासियों तक के पतन के कितने ही उदाहरण हैं।

अतः वैष्णव चिन्तक सायुज्य मुक्ति को मुक्ति की कोटि में नहीं मानते। उनके अनुसार मुक्ति का अर्थ है माया के सेवा पद से भगवान् की प्रेमा-भक्ति में स्थानान्तरण। इस सम्बन्ध में भगवान् चैतन्य भी कहते हैं कि जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति भगवान् की सेवा करने की है। यही वास्तविक मुक्ति है। जब कृत्रिम पद त्याग कर कोई अपने मूल पद पर स्थित होता है, तो वह मुक्त कहलाता है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है—जो भी भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति करता है, वह मुक्त या ब्रह्मभूत माना जाता है। *गीता* में यह भी कहा गया है कि जब भक्त में कोई भौतिक कल्मष नहीं रहता तो वह ब्रह्मभूत पद पर स्थित माना जाता है। *पद्म-पुराण* में भी इस की पुष्टि हुई है कि मुक्ति का अर्थ है भगवान् की सेवा में अनुरक्त रहना।

मैत्रेय मुनि ने बताया कि ध्रुव महाराज प्रारम्भ में भगवान् की सेवा में अनुरक्त नहीं होना चाहते थे, वरन् वे अपने परदादा से भी उच्चतर स्थान चाह रहे थे। यह भगवान् की सेवा न होकर एक प्रकार से इन्द्रियों की सेवा है। यदि किसी को इस ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च पद अर्थात् ब्रह्मा का पद मिल भी जाये तो भी वह बद्धजीव ही है। श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती का कहना है कि यदि कोई वास्तविक, शुद्ध भक्ति को प्राप्त कर लेता है, तो वह ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे बड़े-बड़े देवों को भी तुच्छ कीट जैसा मानता है। इसका कारण यह है कि तुच्छ से तुच्छ कीड़े में भी इन्द्रिय-तृप्ति की आकांक्षा रहती है और ब्रह्मा जैसा महापुरुष भी तो इस भौतिक प्रकृति को अपने वश में रखना चाहता है।

इन्द्रियतृप्ति का अर्थ है भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व। बद्धजीवों की सारी स्पर्धा इसी भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करने पर आधारित है। आधुनिक वैज्ञानिकों को अपने ज्ञान का गुमान है कि वे नई विधियों की खोज करके भौतिक प्रकृति के नियमों पर प्रभुत्व प्राप्त कर रहे हैं। वे इसे मानवीय सभ्यता की प्रगति समझते हैं। वे जितना ही अधिक प्रकृति के नियमों पर प्रभुत्व स्थापित करते जाते हैं, वे अपने को उतना ही उन्नत मानते हैं। प्रारम्भ में ध्रुव महाराज की मनोवृत्ति ऐसी ही थी। वे इस भौतिक

जगत में ब्रह्मा से भी बड़ा पद प्राप्त करके प्रभुत्व जताना चाहते थे। अतः, जैसाकि अन्यत्र वर्णन हुआ है, भगवान् के प्रकट होने पर जब ध्रुव महाराज अपने संकल्प तथा अन्तिम रूप से प्राप्त पुरस्कार की तुलना करने बैठे तो उन्हें अनुभव हुआ कि उन्होंने तो टूटे काँच के कुछ टुकड़ों की माँग की थी, किन्तु बदले में उनको अनेक हीरे प्राप्त हुए हैं। जैसे ही उन्होंने भगवान् को अपने समक्ष देखा, उन्हें तुरन्त बोध हो आया कि उन्होंने भगवान् से ब्रह्माजी से भी बढ़कर उच्चतर पद को प्राप्त करने की कितनी ओछी माँग की है।

जब ध्रुव महाराज भगवान् को साक्षात् देखकर वसुदेव पद पर स्थित हो गये तो उनका सारा भौतिक कल्मष जाता रहा। इस प्रकार वे लज्जाग्रस्त हुए कि उनकी माँग क्या थी और उन्हें मिला क्या। उन्हें लज्जा इस बात से हुई कि यद्यपि वे अपने पिता का राज्य छोड़कर मधुवन गये थे और उन्हें नारद मुनि जैसा गुरु प्राप्त हो चुका था, तो भी वे अपनी विमाता से बदला लेने की सोच रहे थे और इसी लोक में सम्मानित पद ग्रहण करना चाह रहे थे। यही कारण था कि भगवान् से समस्त मनवांछित वरदान प्राप्त करके भी वे खिन्न थे।

जब ध्रुव महाराज ने वास्तव में भगवान् को अपने समक्ष देखा तो उनके मन में न तो अपनी विमाता से प्रतिशोध लेने की भावना थी, न ही इस भौतिक संसार पर राज्य करने की इच्छा थी, किन्तु भगवान् इतने दयालु हैं कि वे समझ गये कि ध्रुव महाराज को इनकी इच्छा है। ध्रुव महाराज के समक्ष बोलते हुए भगवान् ने *वेदाहम्* शब्द का प्रयोग किया, क्योंकि जब ध्रुव महाराज ने भौतिक लाभों की माँग की तो वे उनके हृदय में विराजमान होने के कारण सब कुछ जान चुके थे। मनुष्य जो भी सोचता है उसे भगवान् सदैव जान लेते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*वेदाहं समतीतानि।*

भगवान् ने ध्रुव महाराज की समस्त इच्छाएँ पूरी कीं। अपनी विमाता तथा सौतले भाई के प्रति उनकी प्रतिशोधपरक मनोवृत्ति पूर्ण हुई; अपने परदादा से भी श्रेष्ठ पद प्राप्त करने की इच्छा भी पूरी हुई और उसी के साथ ही ध्रुवलोक में उनका शाश्वत पद निश्चित हो गया। यद्यपि ध्रुव महाराज ने शाश्वत लोक की कल्पना भी नहीं की थी, किन्तु श्रीकृष्ण ने सोचा कि बेचारा ध्रुव इस संसार का उच्च पद

प्राप्त करके क्या करेगा ? अतः उन्होंने ध्रुव को छत्तीस हजार वर्षों तक वृद्ध हुए बिना और अनेक यज्ञों को सम्पन्न करने का अवसर प्रदान करते हुए इस संसार का सर्वविख्यात राजा बन कर राज्य करने का सुअवसर प्रदान किया और इस प्रकार समस्त भौतिक भोग के पश्चात् ध्रुव को आध्यात्मिक जगत में, जिसमें ध्रुवलोक सम्मिलित है, भेज दिया।

ध्रुव उवाच

समाधिना नैकभवेन यत्पदं

विदुः सनन्दादय ऊर्ध्वरेतसः ।

मासैरहं षड्भ्रमुष्य पादयो-

श्लायामुपेत्यापगतः पृथङ्मतिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ध्रुवः उवाच—ध्रुव महाराज ने कहा; समाधिना—समाधि में योग अभ्यास द्वारा; न—कभी नहीं; एक-भवेन—एक जन्म से; यत्—जो; पदम्—पद, स्थिति; विदुः—समझ गया; सनन्द-आदयः—सनन्दन इत्यादि चारों ब्रह्मचारी; ऊर्ध्व-रेतसः—अच्युत ब्रह्मचारी; मासैः—महीनों में; अहम्—मैं; षड्भिः—छह; अमुष्य—उनके; पादयोः—चरणकमलों का; श्लायाम्—आश्रय, शरण; उपेत्य—प्राप्त करके; अपगतः—गिर पड़ा; पृथक्-मतिः—भगवान् के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर स्थित मेरा मन।

ध्रुव महाराज ने मन ही मन सोचा—भगवान् के चरणकमलों की छाया में स्थित रहने का प्रयत्न करना कोई सरल कार्य नहीं है, क्योंकि सनन्दन इत्यादि जैसे महान् ब्रह्मचारियों ने भी, जिन्होंने समाधि में अष्टांग योग की साधना की, अनेक जन्मों के बाद ही भगवान् के चरणारविन्द की शरण प्राप्त की है। मैंने तो छह महीनों में ही वही फल प्राप्त कर लिया है, तो भी मैं भगवान् से भिन्न प्रकार से सोचने के कारण मैं अपने पद से नीचे गिर गया हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में ध्रुव महाराज स्वयं अपनी खिन्नता का कारण बताते हैं। सर्वप्रथम वे पश्चात्ताप करते हैं कि भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन करना आसान नहीं है। यहाँ तक कि बड़े-बड़े साधु पुरुष, यथा सनन्दन इत्यादि चारों ब्रह्मचारी—सनन्दन, सनक, सनातन तथा सनत्कुमार—अनेकानेक जन्मों तक योगाभ्यास करके समाधि में रहकर भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर पाने में समर्थ हुए। किन्तु जहाँ तक ध्रुव महाराज का प्रश्न है, उन्होंने तो छह मास की भक्ति से ही भगवान् का साक्षात्कार कर लिया। अतः उन्हें आशा थी कि भगवान् से भेंट होते ही वे उन्हें तुरन्त अपने धाम को लेते जाएँगे। वे यह भी स्पष्ट रूप से समझ गये कि भगवान् ने उन्हें छत्तीस हजार वर्षों तक संसार का शासन करने का वर इसलिए दिया है, क्योंकि वे प्रारम्भ में भौतिक शक्ति के वश में थे और अपनी विमाता से बदला

लेने और पिता के राज्य पर शासन करना चाह रहे थे। ध्रुव महाराज को इन दोनों विचारों के लिए घोर पश्चात्ताप हुआ।

अहो बत ममानात्म्यं मन्दभाग्यस्य पश्यत ।

भवच्छिदः पादमूलं गत्वा याचे यदन्तवत् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अहो—अहो; बत—हाय; मम—मेरा; अनात्म्यम्—देहात्म बोध; मन्द-भाग्यस्य—अभागे का; पश्यत—जरा देखो तो; भव—भौतिक अस्तित्व; छिदः—छिन्न कर सकने वाले भगवान् के; पाद-मूलम्—चरणकमल के; गत्वा—पास जाकर; याचे—मैंने याचना की; यत्—वह जो; अन्त-वत्—नाशवान्।

ओह! जरा देखो तो; मैं कितना अभागा हूँ! मैं उन भगवान् के चरणकमलों से पास पहुँच गया जो जन्म-मरण के चक्र की शृंखला को तुरन्त काट सकते हैं, किन्तु फिर भी अपनी मूर्खता के कारण, मैंने ऐसी वस्तुओं की याचना की, जो नाशवान् हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अनात्म्यम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। 'आत्मा' का अर्थ आत्मा है और *अनात्म्य* का अर्थ है, "आत्मा के विषय में किसी प्रकार की धारणा के बिना।" श्रील ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को शिक्षा दी थी कि जब तक मनुष्य आत्मा को समझ नहीं लेता, तब तक वह जो भी करता है, वह अविद्या है और इससे जीवन में उसे हार ही मिलती है। ध्रुव महाराज को अपनी अभागी स्थिति पर खेद है, क्योंकि वे भगवान् के पास तो पहुँचे, किन्तु अज्ञानवश उन्होंने नाशवान् वस्तु की इच्छा व्यक्त की जबकि भगवान् अपने भक्तों को जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति दिलाने का परम वर देनेवाले हैं, जो किसी भी देवता के लिए दे पाना असम्भव है। जब हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से अमरत्व का वर माँगा तो ब्रह्मा ने ऐसा वर देने में असमर्थता व्यक्त की क्योंकि वे स्वयं अमर नहीं हैं, अतः अमरत्व अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से परम मुक्ति प्रदान करनेवाले तो एकमात्र भगवान् हैं। अन्य कोई भी नहीं है। *हरिं विना न सृतिं तरन्ति*। कहा गया है कि भगवान् हरि के आशीर्वाद के बिना इस संसार में जन्म तथा मृत्यु की अविरल शृंखला को कोई रोक नहीं सकता। इसलिए परमेश्वर को *भव-च्छिद* भी कहा गया है। कृष्णचेतना की प्रविधि में वैष्णव दर्शन भक्त को समस्त प्रकार की भौतिक आकांक्षाओं से वर्जित करता है। वैष्णव भक्त को सदा *अन्याभिलाषिता शून्य* अर्थात् सकाम कर्म के फलों की भौतिक कामनाओं से या दार्शनिक चिन्तन से मुक्त होना चाहिए। वास्तव में ध्रुव महाराज को

परम वैष्णव नारद मुनि ने दीक्षा दी थी कि वे ॐ नमो भगवते वासुदेवाय का जप करें। यह मंत्र विष्णु मन्त्र है, क्योंकि इस मंत्र के जप का अभ्यास करनेवाले को विष्णुलोक प्राप्त होता है। ध्रुव महाराज को इसका खेद है कि एक वैष्णव द्वारा विष्णु मंत्र में दीक्षित होकर भी वे भौतिक लाभ की इच्छा कर रहे थे। उनके पश्चात्ताप का यह दूसरा कारण था। यद्यपि उन्हें भगवान् की अहैतुकी कृपा से विष्णु मंत्र का फल प्राप्त हुआ, किन्तु उन्हें पछतावा बना रहा कि भक्तियोग का अभ्यास करते हुए उन्होंने मूर्खतावश भौतिक लाभ के लिए क्यों प्रयास किया। दूसरे शब्दों में, हममें से प्रत्येक व्यक्ति को जो कृष्ण-भक्ति में लगा है, भौतिक आकांक्षाओं से पूर्णतः मुक्त होना चाहिए, अन्यथा हमें भी ध्रुव महाराज की ही तरह पछताना पड़ेगा।

मतिर्विदूषिता देवैः पतद्भिरसहिष्णुभिः ।

यो नारदवचस्तथ्यं नाग्राहिषमसत्तमः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मतिः—बुद्धि; विदूषिता—दूषित, कल्मष-ग्रस्त; देवैः—देवताओं द्वारा; पतद्भिः—गिरनेवाले के द्वारा; असहिष्णुभिः—असहनशील द्वारा; यः—मैं जो; नारद—नारद मुनि के; वचः—उपदेशों का; तथ्यम्—सत्य; न—नहीं; अग्राहिषम्—स्वीकार किया; असत्-तमः—सर्वाधिक दुष्ट।

चूँकि सभी देवताओं को, जो उच्च लोकों में स्थित हैं, फिर से नीचे आना होगा, अतः वे सभी भक्ति द्वारा मेरे विष्णुलोक को प्राप्त करने के प्रति ईर्ष्यालु हैं। इन असहिष्णु देवताओं ने मेरी बुद्धि नष्ट कर दी है और यही एकमात्र कारण है, जिससे मैं नारदमुनि के उपदेशों के आशीर्वाद को स्वीकार नहीं कर सका!

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक अवसरों का उल्लेख है कि जब कोई पुरुष कठिन तपस्या करता है, तो देवतागण विचलित हो उठते हैं कि कहीं स्वर्ग के उनके प्रमुख स्थान को कोई दूसरा ग्रहण न कर ले। उन्हें पता है कि स्वर्ग में उनका स्थान अस्थायी है, जैसाकि भगवद्गीता के नवें अध्याय में कहा गया है (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति), स्वर्ग निवासी सभी देवता अपने पुण्यकर्मों के क्षीण होने पर पुनः इसी पृथ्वी पर आ जाते हैं।

यह तथ्य है कि देवता ही हमारे शरीर के विभिन्न अंगों के कार्यों का संचालन करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि हम अपनी पलकें भी चलाने के लिए स्वतंत्र नहीं। हर कार्य उन्हीं के द्वारा

नियंत्रित होता है। ध्रुव महाराज इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन देवताओं ने उनकी भक्ति से ईर्ष्यालु होकर उनके विरुद्ध, और उनकी बुद्धि को दूषित कर दिया जिससे परम वैष्णव नारद मुनि के शिष्य होते हुए भी वे नारद के सही उपदेशों को ग्रहण न कर सके। अब ध्रुव महाराज को घोर पश्चात्ताप हो रहा था कि उन्होंने उन उपदेशों की क्यों उपेक्षा की। नारद मुनि ने उनसे कहा था, “तुम अपनी विमाता द्वारा किये गये अपमान या प्रशंसा की क्यों परवाह करते हो?” उन्होंने ध्रुव महाराज से कहा था कि, “तुम तो केवल बालक हो, अतः ऐसे अपमान या प्रशंसा से तुम्हें क्या लेना देना?”—किन्तु ध्रुव महाराज तो भगवान् द्वारा प्रदत्त आशीर्वाद प्राप्त करने पर तुले थे, अतः नारद ने सलाह दी थी कि वे फिलहाल अपने घर चले जाँय और बड़े होने पर भक्ति करने का प्रयास करें। ध्रुव महाराज को खेद हो रहा था कि उन्होंने नारद मुनि के उपदेश को क्यों अस्वीकार किया और क्यों भगवान् से किसी नाशवान वस्तु अर्थात् विमाता से प्रतिशोध तथा अपने पिता के राज्य पर अधिकार करने का वर पाने पर तुले रहे।

ध्रुव महाराज को पछतावा था कि उन्होंने अपने गुरु के उपदेश पर गभीरता से विचार नहीं किया; इसीलिए उनकी चेतना दूषित हो गई थी। तो भी भगवान् इतने दयालु हैं कि भक्ति के कारण उन्होंने ध्रुव को चरम वैष्णव-लक्ष्य प्रदान किया।

दैवीं मायामुपाश्रित्य प्रसुप्त इव भिन्नदृक् ।
तप्ये द्वितीयेऽप्यसति भ्रातृभ्रातृव्यहृद्भुजा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

दैवीम्—भगवान् की; मायाम्—माया; उपाश्रित्य—शरण ग्रहण करके; प्रसुप्तः—निद्रा में स्वप्न देखता; इव—सदृश्य; भिन्न-दृक्—विलग दृष्टि वाला; तप्ये—मैंने पश्चात्ताप किया; द्वितीये—माया में; अपि—यद्यपि; असति—क्षणिक; भ्रातृ—भाई; भ्रातृव्य—शत्रु; हृत्—हृदय के भीतर; रुजा—पश्चात्ताप से।

ध्रुव महाराज पश्चात्ताप करने लगे कि मैं माया के वश में था; वास्तविकता से अपरिचित होने के कारण मैं उसकी गोद में सोया था। द्वैत दृष्टि के कारण मैं अपने भाई को शत्रु समझता रहा और झूठे ही यह सोचकर मन ही मन पश्चात्ताप करता रहा कि वे मेरे शत्रु हैं।

तात्पर्य : भक्त को वास्तविक ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब भगवत्कृपा से उसे जीवन के विषय में सही निष्कर्ष ज्ञात होता है। इस भौतिक जगत में मित्रों तथा शत्रुओं का बनाना रात्रि में स्वप्न देखने जैसा है। स्वप्न में हम अवचेतन मन पर स्थित विभिन्न प्रभावों के कारण अनेकानेक बातों की सृष्टि

करते रहते हैं, किन्तु वे सभी क्षणिक तथा असत्य होती हैं। इसी प्रकार, यद्यपि हम भौतिक जीवन में जाग्रत (चैतन्य) दिखते हैं, किन्तु आत्मा तथा परमात्मा के विषय में कोई जानकारी न होने के कारण हम कल्पना से अनेक मित्र तथा शत्रु बना लेते हैं। श्रील कृष्ण दास कविराज गोस्वामी कहते हैं कि इस भौतिक जगत या भौतिक चेतना में अच्छा तथा बुरा दोनों एक से हैं। अच्छे तथा बुरे का अन्तर केवल हमारी मानसिक ऊहापोह है। वास्तविकता तो यह है कि सभी जीवात्माएँ भगवान् की सन्तानें अथवा उनकी तटस्था शक्ति के आनुषंगिक फल (उपोत्पाद) हैं। प्रकृति के गुणों से दूषित होने के कारण हम एक आध्यात्मिक स्फुलिंग को दूसरे से भिन्न मानते हैं। यह भी एक अन्य प्रकार का स्वप्न-दर्शन है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो सचमुच विद्वान् हैं, वे किसी विद्वान, ब्राह्मण, हाथी, कुत्ते तथा चांडाल में भेद नहीं बरतते। वे बाह्य शरीर के रूप में न देखकर व्यक्ति को आत्मा के रूप में देखते हैं। उच्च ज्ञान के द्वारा मनुष्य जान पाता है कि यह देह पाँच तत्त्वों के संयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से भी मनुष्य और देवता के शरीर की बनावट एक-जैसी है। आध्यात्मिक दृष्टि से हम सभी आध्यात्मिक स्फुलिंग हैं, ईश्वर के भिन्नांश हैं। चाहे भौतिक दृष्टि से हो अथवा आध्यात्मिक दृष्टि से, हम सभी एक हैं, किन्तु माया से प्रेरित होकर हम मित्र तथा शत्रु बनाते हैं, अतः ध्रुव महाराज ने कहा—*दैवीं मायामुपाश्रित्य*—उनके मोह का कारण माया की संगति थी।

मयैतत्प्रार्थितं व्यर्थं चिकित्सेव गतायुषि
प्रसाद्य जगदात्मानं तपसा दुष्प्रसादनम् ।
भवच्छिदमयाचेऽहं भवं भाग्यविवर्जितः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; एतत्—यह; प्रार्थितम्—के लिए प्रार्थना किया गया; व्यर्थम्—वृथा ही; चिकित्सा—उपचार; इव—सदृश; गत—समाप्त; आयुषि—उसके लिए जिसकी आयु; प्रसाद्य—तुष्ट करके; जगत्-आत्मानम्—ब्रह्माण्ड की आत्मा; तपसा—तपस्या से; दुष्प्रसादनम्—जिसे प्रसन्न कर पाना कठिन है; भव-छिदम्—भगवान् जो जन्म तथा मृत्यु की शृंखला को काटने में समर्थ हैं; अयाचे—याचना की; अहम्—मैंने; भवम्—जन्म तथा मृत्यु की आवृत्ति; भाग्य—भाग्य; विवर्जितः—रहित, हीन।

भगवान् को प्रसन्न कर पाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु मैंने तो समस्त ब्रह्माण्ड के परमात्मा को प्रसन्न करके भी अपने लिए व्यर्थ की वस्तुएँ माँगी हैं। मेरे कार्य ठीक वैसे ही हैं जैसे पहले से किसी मृत व्यक्ति का उपचार करना। जरा देखो तो मैं कितना अभागा हूँ कि जन्म तथा मृत्यु की शृंखला को काटने में समर्थ परमेश्वर से साक्षात्कार कर लेने पर भी मैंने फिर उन्हीं दशाओं के

लिए पुनः प्रार्थना की है!

तात्पर्य : कभी-कभी ऐसा होता है कि भगवान् की प्रेमा-भक्ति में अनुरक्त रहनेवाला भक्त अपनी सेवा के बदले में कुछ भौतिक लाभ की कामना करता है। यह भक्ति करने की सही विधि नहीं है। निस्सन्देह, अविद्या के कारण भक्त कभी-कभी ऐसा कर बैठता है, किन्तु ध्रुव महाराज को अपने ऐसे आचरण पर पछतावा हो रहा है।

स्वाराज्यं यच्छतो मौढ्यान्मानो मे भिक्षितो बत ।
ईश्वराक्षीणपुण्येन फलीकारानिवाधनः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

स्वाराज्यम्—उनकी भक्ति; यच्छतः—भगवान् से, जो देने के लिए इच्छुक थे; मौढ्यात्—मूर्खता से; मानः—सम्पन्नता; मे—मेरे द्वारा; भिक्षितः—याचित; बत—ओह; ईश्वरात्—महान् सम्राट से; क्षीण—घटा हुआ; पुण्येन—जिसके पवित्र कर्म; फली-कारान्—चावल के टूटन, कना; इव—सदृश; अधनः—निर्धन मनुष्य।

पूरी तरह अपनी मूर्खता और पुण्यकर्मों की न्यूनता के कारण ही मैंने भौतिक नाम, यश तथा सम्पन्नता चाही यद्यपि भगवान् ने मुझे अपनी निजी सेवा प्रदान की थी। मेरी स्थिति तो उस निर्धन व्यक्ति की-सी है, जिस बेचारे ने महान् सम्राट के प्रसन्न होने पर मुँहमाँगी वस्तु माँगने के लिए कहे जाने पर अज्ञानवश चावल के कुछ कने ही माँगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्वाराज्यम् शब्द, जिसका अर्थ “पूर्ण स्वतंत्रता” होता है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बद्धजीव जान ही नहीं पाता कि पूर्ण स्वतंत्रता क्या है। पूर्ण स्वतंत्रता का अर्थ है अपनी ही स्वाभाविक स्थिति। परमेश्वर के अंश जीवात्मा की वास्तविक स्वाधीनता यही है कि वह सदैव परमेश्वर पर आश्रित रहे, जिस प्रकार कि एक बच्चा माता-पिता की देखरेख में स्वाधीन होकर खेलता है। बद्धजीव की स्वाधीनता का अर्थ यह नहीं है कि वह माया द्वारा उत्पन्न अवरोधों से भिड़ता रहे, अपितु वह श्रीकृष्ण की शरण में जाए। भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति माया द्वारा उत्पन्न अवरोधों से जूझ करके पूर्णतः स्वतंत्र होना चाहता है। इसे अस्तित्व के लिए संघर्ष कहा जाता है। वास्तविक स्वाधीनता तो भगवान् की सेवा में फिर से जुड़ जाना है। जो कोई वैकुण्ठलोक गोलोक वृन्दावन जाता है, वह मुक्त भाव से भगवान् की सेवा करता है। यही पूर्ण स्वतंत्रता है। इसके सर्वथा विपरीत भौतिक स्वामित्व है, जिसे हम भ्रमवश स्वतंत्रता मान लेते हैं। अनेक राजनीतिक नेताओं ने स्वतंत्रता स्थापित

करने के प्रयास किये हैं, किन्तु तथाकथित स्वतंत्रता से मनुष्यों की परतंत्रता ही बढ़ी है। जीवात्मा कभी-भी भौतिक जगत में स्वतंत्र रहने का प्रयास करके प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर सकता। अतः मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करके चिरन्तन सेवा करनी होती है।

ध्रुव महाराज को पछतावा है कि उन्होंने भौतिक ऐश्वर्य तथा अपने परदादा ब्रह्मा से भी अधिक सम्पन्नता की इच्छा व्यक्त की। भगवान् से उनकी यह याचना वैसी ही थी जैसी कि किसी महान सम्राट से किसी निर्धन व्यक्ति द्वारा चावल के टूटे कनों की माँग। निष्कर्ष यह निकला कि जो कोई भी भगवान् की प्रेमा-भक्ति में संलग्न है उसे भगवान् से भौतिक सम्पन्नता की याचना नहीं करनी चाहिए। भौतिक सम्पन्नता प्रदान करना बहिरंगा शक्ति के कड़े विधि-विधानों पर निर्भर करता है। शुद्ध भक्त तो भगवान् की सेवा करने का अवसर प्रदान करने की याचना करते हैं। यही हमारी असली स्वतंत्रता है। यदि हम कुछ और चाहते हैं, तो यह हमारे दुर्भाग्य का सूचक है।

मैत्रेय उवाच

न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो

रजोजुषस्तात भवाद्दशा जनाः ।

वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो

यदृच्छया लब्धमनःसमृद्धयः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; मुकुन्दस्य—भगवान् का, जो मुक्ति देनेवाले हैं; पद-अरविन्दयोः—चरणकमलों का; रजः-जुषः—जो लोग धूल का स्वाद लेने के लिए इच्छुक हैं; तात—हे विदुर; भवाद्दशाः—आपके तुल्य; जनाः—व्यक्ति; वाञ्छन्ति—कामना करते हैं; तत्—उसका; दास्यम्—दासता; ऋते—बिना; अर्थम्—स्वार्थ; आत्मनः—अपने लिए; यदृच्छया—स्वतः; लब्ध—जितना प्राप्त हो उसी से; मनः-समृद्धयः—अपने आपको धनी समझते हुए।

महर्षि मैत्रेय ने आगे कहा : हे विदुर, आप जैसे व्यक्ति, जो मुकुन्द (मुक्तिप्रदाता भगवान्)

के चरणकमलों के विशुद्ध भक्त हैं और उनके चरणकमलों में भौरों के सदृश्य आसक्त रहते हैं, सदैव भगवान् के चरणकमलों की सेवा करने में ही प्रसन्न रहते हैं। ऐसे पुरुष, जीवन की किसी भी परिस्थिति में संतुष्ट रहते हैं और भगवान् से कभी भी किसी भौतिक सम्पन्नता की याचना नहीं करते।

तात्पर्य : भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि वे परम भोक्ता हैं, वे ही इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के परम स्वामी और सबों के परम मित्र हैं। जब मनुष्य इन बातों को भलीभाँति जान लेता है, तो वह

सदैव सन्तुष्ट रहता है। शुद्ध भक्त कभी-भी किसी प्रकार की भौतिक सम्पन्नता के पीछे नहीं पड़ता। किन्तु कर्मी अथवा ज्ञानी या योगी अपने-अपने सुख के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। कर्मी अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए दिन-रात श्रम करते हैं; ज्ञानी मुक्ति पाने के उद्देश्य से कठिन तपस्या करते हैं और योगी भी चमत्कारी शक्ति प्राप्त करने के लिए कठिन योगाभ्यास करते हैं। किन्तु भक्त की रुचि ऐसे कार्यों में कदापि नहीं रहती; उसे न तो योगशक्ति चाहिए, न मुक्ति अथवा भौतिक सम्पन्नता। वह तो, जब तक भगवान् की सेवा में निरन्तर लगा रहता है, जीवन की किसी भी दशा में सन्तुष्ट रहता है। भगवान् के चरणों की तुलना कमल से की जाती है, जिसमें केशर की धूलि रहती है। भक्त सदैव भगवान् के चरणकमलों मधुपान में व्यस्त रहता है। जब तक कोई सभी भौतिक इच्छाओंसे मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वह भगवान् के चरणकमलों से मधु को वास्तव में नहीं चख सकता। मनुष्य को किसी प्रकार से भौतिक परिस्थितियों के आने और जाने से विचलित हुए बिना भक्तिकार्य करते रहना होता है। भौतिक सम्पन्नता के लिए किसी प्रकार की कामना का न होना *निष्काम* कहलाता है। मनुष्य को भ्रमवश यह नहीं समझ बैठना चाहिए कि *निष्काम* का अर्थ समस्त कामनाओं का परित्याग है। यह असम्भव है। जीवात्मा शाश्वतरूप से विद्यमान है, अतः वह कामनाओं को नहीं त्याग सकता। जीवात्मा में कामनाएँ होनी ही चाहिए, यह तो जीवन का लक्षण है। जब निष्काम बनने की संस्तुति प्राप्त हो तो उसका यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि हमें अपनी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए किसी भी वस्तु की कामना नहीं करनी चाहिए। भक्त के लिए यह मनःस्थिति, अर्थात् *निःस्पृह* होना, उचित स्थिति है। वस्तुतः हममें से प्रत्येक के पास भौतिक सुख-सुविधा के लिए अपनी-अपनी व्यवस्था रहती है। भक्त को भगवान् द्वारा प्रदत्त सुविधाओं के मानदण्ड से सदैव संतुष्ट रहना चाहिए, जैसाकि *ईशोपनिषद्* में कहा गया है (*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः*)। इससे कृष्णभक्ति करने के लिए समय मिल जाता है।

आकर्ण्यात्मजमायान्तं सम्परेत्य यथागतम् ।

राजा न श्रद्धे भद्रमभद्रस्य कुतो मम ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

आकर्ण्य—सुनकर; आत्म-जम्—अपना पुत्र; आयान्तम्—आते हुए; सम्परेत्य—मरने के बाद; यथा—जिस प्रकार; आगतम्—वापस आया हुआ; राजा—राजा उत्तानपाद; न—नहीं; श्रद्धे—विश्वास हुआ; भद्रम्—कल्याण; अभद्रस्य—अशुभ का; कुतः—कहाँ से; मम—मेरा।

जब राजा उत्तानपाद ने सुना कि उसका पुत्र ध्रुव घर वापस आ रहा है, मानो मृत्यु के पश्चात् पुनर्जीवित हो रहा हो, तो उसे इस समाचार पर विश्वास नहीं हुआ क्योंकि उसे सन्देह था कि यह हो कैसे सकता है। उसने अपने को अत्यन्त अभागा समझ लिया था, अतः उसने सोचा कि ऐसा सौभाग्य उसे कहाँ नसीब हो सकता है ?

तात्पर्य : पाँच वर्ष के बालक ध्रुव महाराज तपस्या के लिए जंगल चले गये और राजा को विश्वास ही नहीं हो रहा था कि इतनी अल्प आयु का बालक जंगल में रह सकता है। उसे पक्का विश्वास था कि ध्रुव मर चुका है। अतः उसे इस समाचार पर विश्वास ही नहीं हुआ कि ध्रुव महाराज घर वापस आ रहे हैं। उसके लिए यह समाचार मानो यह कह रहा हो कि एक मृत व्यक्ति वापस आ रहा है, इसलिए उसे विश्वास नहीं हो रहा था। ध्रुव महाराज के जंगल चले जाने के बाद राजा उत्तानपाद सोचता रहा कि उसी के कारण ध्रुव महाराज जंगल गये हैं, अतः वह अपने को सबसे अभागा समझ रहा था। अतः भले ही उसका खोया हुआ पुत्र मृत्यु के राज्य से वापस आ रहा था, किन्तु अपने को अत्यन्त पापी समझ लेने के कारण वह सोच रहा था कि उसके इतने भाग्य कहाँ कि खोया पुत्र वापस आ जाये।

श्रद्धाय वाक्यं देवर्षेर्हर्षवेगेन धर्षितः ।
वार्ताहर्तुरतिप्रीतो हारं प्रादान्महाधनम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

श्रद्धाय—श्रद्धा रखकर; वाक्यम्—वचनों में; देवर्षेः—नारद मुनि के; हर्ष-वेगेन—परम संतोष से; धर्षितः—भावविभोर होकर; वार्ता-हर्तुः—समाचार लानेवाले से; अतिप्रीतः—अत्यन्त प्रसन्न होकर; हारम्—मोती की माला; प्रादात्—प्रदान किया; महा-धनम्—अत्यन्त मूल्यवान्।

यद्यपि उसे सन्देशवाहक की बातों पर विश्वास नहीं हुआ, किन्तु महर्षि नारद के वचन पर उसकी सम्पूर्ण श्रद्धा थी। अतः वह इस समाचार से अत्यन्त भावविह्वल हो उठा और हर्षातिरेक में झट उसने संदेशवाहक को एक बहुमूल्य हार भेंट कर दिया।

सदश्रं रथमारुह्य कार्तस्वरपरिष्कृतम् ।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च पर्यस्तोऽमात्यबन्धुभिः ॥ ३९ ॥
शङ्खदुन्दुभिनादेन ब्रह्मघोषेण वेणुभिः ।
निश्चक्राम पुरान्तूर्णमात्मजाभीक्षणोत्सुकः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सत्-अश्वम्—सुन्दर घोड़ों द्वारा खींचा जानेवाला; रथम्—रथ पर; आरुह्य—चढ़ कर; कार्तस्वर-परिष्कृतम्—सुवर्णजटित; ब्राह्मणैः—ब्राह्मणों के साथ; कुल-वृद्धैः—परिवार के बूढ़े लोगों के साथ; च—भी; पर्यस्तः—घिरकर; अमात्य—अधिकारियों तथा मंत्रियों द्वारा; बन्धुभिः—तथा मित्रों से; शङ्ख—शंख; दुन्दुभि—तथा दुन्दुभी की; नादेन—ध्वनि से; ब्रह्म-घोषण—वैदिक मंत्रों के उच्चारण से; वेणुभिः—वंशी से; निश्चक्राम—बाहर आया; पुरात्—नगर से; तूर्णम्—शीघ्रता से; आत्म-ज—पुत्र को; अभीक्षण—देखने के लिए; उत्सुकः—अत्यन्त इच्छुक।

अपने खोये हुए पुत्र के मुख को देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक राजा उत्तानपाद उत्तम घोड़ों से खींचे जानेवाले तथा स्वर्णजटित रथ पर आरूढ़ हुआ। वह अपने साथ अनेक विद्वान् ब्राह्मण, परिवार के गुरुजन, अपने अधिकारी तथा मंत्री और अपने सगे मित्रों को लेकर तुरन्त नगर से बाहर चला गया। जब वह इस दल के साथ आगे बढ़ रहा था, तो शंख, दुन्दुभी, वंशी तथा वेद-मंत्रों के उच्चारण की मंगलसूचक ध्वनि हो रही थी।

सुनीतिः सुरुचिश्रास्य महिष्यौ रुक्मभूषिते ।

आरुह्य शिबिकां सार्धमुत्तमेनाभिजग्मतुः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

सुनीतिः—सुनीति; सुरुचिः—सुरुचि; च—भी; अस्य—राजा की; महिष्यौ—रानियाँ; रुक्म-भूषिते—स्वर्ण आभूषणों से विभूषित; आरुह्य—चढ़कर; शिबिकाम्—पालकी में; सार्धम्—के साथ साथ; उत्तमेन—राजा का अन्य पुत्र; अभिजग्मतुः—सभी साथ-साथ गये।

उस स्वागत-यत्रा में राजा उत्तानपाद की दोनों रानियाँ, सुनीति तथा सुरुचि और राजा का दूसरा पुत्र उत्तम दिख रहे थे। रानियाँ पालकी में बैठी थीं।

तात्पर्य : राजमहल से ध्रुव महाराज के चले जाने पर राजा अत्यन्त दुखी था, किन्तु नारद मुनि के सदय वचनों से वह कुछ-कुछ प्रसन्न था। वह अपनी पत्नी सुनीति के सौभाग्य तथा सुरुचि के दुर्भाग्य को समझ रहा था क्योंकि महल में ये तथ्य खुले रूप में प्रकट थे। तो भी जब यह समाचार महल में पहुँचा कि ध्रुव महाराज वापस आ रहे हैं, तो उनकी माता सुनीति ने दयावश तथा परम वैष्णव की माता होने के कारण दूसरी रानी सुरुचि तथा उसके पुत्र उत्तम को उसी पालकी में चढ़ाने में तनिक भी संकोच नहीं किया। यह परम वैष्णव ध्रुव महाराज की माता सुनीति की महानता थी।

तं दृष्ट्वापवनाभ्याश आयान्तं तरसा रथात् ।

अवरुह्य नृपस्तूर्णमासाद्य प्रेमविह्वलः ॥ ४२ ॥

परिरेभेऽङ्गजं दोर्भ्या दीर्घोत्कण्ठमनाः श्वसन् ।
विष्वक्सेनाङ्घ्रिसंस्पर्शहताशेषाघबन्धनम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (ध्रुव महाराज को); दृष्ट्वा—देखकर; उपवन—छोटा जंगल; अभ्याशे—निकट; आयान्तम्—लौटते हुए; तरसा—तेजी से; रथात्—रथ से; अवरुह्य—उतर कर; नृपः—राजा; तूर्णम्—तुरन्त; आसाद्य—निकट आकर; प्रेम—प्रेम से; विह्वलः—विभोर; परिरेभे—आलिंगन किया; अङ्ग-जम्—अपने पुत्र को; दोर्भ्याम्—अपनी बाँहों से; दीर्घ—दीर्घ समय तक; उत्कण्ठ—उत्सुक; मनाः—जिसका मन, राजा; श्वसन्—तेजी से साँस लेता; विष्वक्सेन—भगवान् के; अङ्घ्रि—चरणकमल से; संस्पर्श—स्पर्श किया जाकर; हत—नष्ट; अशेष—अनन्त; अघ—भौतिक कल्मष; बन्धनम्—जिसका बन्धन।

ध्रुव महाराज को एक उपवन के निकट पहुँचा देखकर राजा उत्तानपाद तुरन्त अपने रथ से नीचे उतर आये। वे अपने पुत्र ध्रुव को देखने के लिए दीर्घकाल से अत्यन्त उत्सुक थे, अतः वे अत्यन्त प्रेमवश दीर्घकाल से खोये अपने पुत्र का आलिंगन करने के लिए आगे बढ़े। लम्बी-लम्बी साँसें भरते हुए राजा ने उनको अपने दोनों बाहुओं में भर लिया। किन्तु ध्रुव महाराज पहले जैसे न थे; वे भगवान् के चरणकमलों के स्पर्श से आध्यात्मिक उन्नति मिलने से पूर्ण रूप से पवित्र हो चुके थे।

अथाजिघ्रन्मुहुर्मूर्ध्नि शीतैर्नयनवारिभिः ।
स्नापयामास तनयं जातोद्दाममनोरथः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आजिघ्रन्—सूँघते हुए; मुहुः—बारम्बार; मूर्ध्नि—सिर पर; शीतैः—ठंडे; नयन—नेत्रों के; वारिभिः—जल से; स्नापयाम् आस—नहला दिया; तनयम्—पुत्र को; जात—पूर्ण; उद्दाम—बड़ी; मनः-रथः—उसकी कामना।

ध्रुव महाराज के मिलन से राजा उत्तानपाद की चिर-अभिलषित साध पूरी हुई, अतः उन्होंने बारम्बार ध्रुव का सिर सूँघा और अपने ठंडे अश्रुओं की धाराओं से उन्हें नहला दिया।

तात्पर्य : स्वभावतः जब कोई व्यक्ति रोता है, तो दो कारण हो सकते हैं। जब किसी इच्छा के पूरे होने पर अत्यधिक प्रसन्नतावश कोई रोता है, तो आँखों से निकलनेवाले अश्रु अत्यन्त ठंडे एवं मनोहर लगते हैं जब कि दुख के आँसू अत्यन्त गर्म होते हैं।

अभिवन्द्य पितुः पादावाशीर्भिश्चाभिमन्त्रितः ।
ननाम मातरौ शीर्ष्णां सत्कृतः सज्जनाग्रणीः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

अभिवन्द्य—पूजा करके; पितुः—अपने पिता के; पादौ—चरणों को; आशीर्भिः—आशीर्वादानों से; च—तथा; अभिमन्त्रितः—सम्बोधित; ननाम—झुकाया; मातरौ—दोनों माताओं को; शीर्ष्णा—अपने सिर से; सत्-कृतः—आदर किया गया; सत्-जन—सज्जनों के; अग्रणीः—सर्वश्रेष्ठ।

तब समस्त सज्जनों में सर्वश्रेष्ठ ध्रुव महाराज ने सर्वप्रथम अपने पिता के चरणों में प्रणाम किया और उनके पिता ने अनेक प्रश्न पूछते हुए उनका सम्मान किया। तब उन्होंने अपनी दोनों माताओं के चरणों पर अपना सिर झुकाया।

तात्पर्य : यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि ध्रुव महाराज ने अपनी माता के साथ ही साथ अपनी विमाता को भी क्यों नमस्कार किया क्योंकि उसी के अपमान से उन्हें घर छोड़ना पड़ा था। इसका उत्तर यही है कि आत्म-साक्षात्कार द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेने तथा भगवान् का साक्षात् दर्शन कर लेने के कारण ध्रुव महाराज भौतिक कामना के समस्त कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त हो चुके थे। भक्त इस भौतिक संसार में कभी भी अपमान या सम्मान नहीं देखता। अतः भगवान् चैतन्य कहते हैं कि मनुष्य को दूब से भी अधिक विनीत होना चाहिए और सेवा करते समय उसे वृक्ष से भी अधिक सहनशील होना चाहिए। इसीलिए ध्रुव महाराज को इस श्लोक में *सज्जनाग्रणीः* कहा गया है, जिसका अर्थ है सज्जनों में सर्वश्रेष्ठ। शुद्ध भक्त सर्वश्रेष्ठ होता है, वह किसी के प्रति शत्रुभाव नहीं रखता। शत्रुता के कारण द्वैत भाव इस भौतिक जगत की सृष्टि है। आध्यात्मिक जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है क्योंकि वह परम सत्य होता है।

सुरुचिस्तं समुत्थाप्य पादावनतमर्भकम् ।

परिष्वज्याह जीवेति बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

सुरुचिः—सुरुचि; तम्—उस; समुत्थाप्य—उठाकर; पाद-अवनतम्—अपने चरणों पर नत; अर्भकम्—नादान बालक को; परिष्वज्य—आलिंगन करके; आह—कहा; जीव—दीर्घायु हो; इति—इस प्रकार; बाष्प—आँसुओं से; गद्गदया—रुद्ध; गिरा—वाणी से।

ध्रुव महाराज की छोटी माता सुरुचि ने यह देखकर कि निर्दोष बालक उसके चरणों पर नत है, उसे तुरन्त उठा लिया, अपनी बाँहों में भर लिया और अश्रुपूर्ण गद्गद वाणी से आशीर्वाद दिया कि मेरे बालक, चिरञ्जीवी हो।

यस्य प्रसन्नो भगवान्गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः ।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिस किसी से; प्रसन्नः—प्रसन्न होता है; भगवान्—भगवान्; गुणैः—गुणों से; मैत्री-आदिभिः—मित्रता इत्यादि से.; हरिः—भगवान् हरि; तस्मै—उसको; नमन्ति—नमस्कार करते हैं; भूतानि—समस्त जीवात्माएँ; निम्नम्—नीचे की ओर; आपः—जल; इव—जिस प्रकार; स्वयम्—स्वतः ।

जिस प्रकार स्वभावगत रूप से जल स्वतः नीचे की ओर बहता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् के साथ मैत्रीपूर्ण आचरण के कारण दिव्य गुणों वाले व्यक्ति को सभी जीवात्माएँ मस्तक झुकाती हैं ।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ध्रुव के प्रति सदय न होते हुए भी सुरुचि ने उन्हें “दीर्घजीवी हो” ऐसा आशीर्वाद क्यों दिया ? इसका उत्तर इस श्लोक में दिया हुआ है । चूँकि अपने दिव्य गुणों के कारण भगवान् ने ध्रुव महाराज को आशीष दिया था, अतः सभी लोग उन्हें सम्मान देने के लिए बाध्य थे, जिस प्रकार कि जल प्राकृतिक रूप से सदैव नीचे की ओर बहता है । भगवद्-भक्त किसी से सम्मान नहीं चाहता, किन्तु संसार में वह जहाँ कहीं भी जाता है, सम्मानित होता रहता है । श्रीनिवास आचार्य ने कहा है कि वृन्दावन के छहों गोस्वामी सारे ब्रह्माण्ड में इसीलिए पूजित हैं, क्योंकि समस्त तेज के स्रोत भगवान् को प्रसन्न कर लेने पर भक्त स्वतः सबको प्रसन्न कर लेता है और इस तरह सभी उसका सम्मान करते हैं ।

उत्तमश्च ध्रुवश्चोभावन्योन्यं प्रेमविह्वलौ ।
अङ्गसङ्गादुत्पुलकावस्त्रौघं मुहुरूहतुः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

उत्तमः च—उत्तम भी; ध्रुवः च—ध्रुव भी; उभौ—दोनों; अन्योन्यम्—परस्पर; प्रेम-विह्वलौ—प्रेम से अभिभूत होकर; अङ्ग-सङ्गात्—अंग-स्पर्श के आलिंगन से; उत्पुलकौ—रोमांच हो आया; अस्त्र—अश्रुओं की; ओघम्—धारा; मुहुः—बारम्बार; ऊहतुः—आदान-प्रदान किया ।

उत्तम तथा ध्रुव महाराज दोनों भाइयों ने परस्पर अश्रुओं का आदान-प्रदान किया । वे स्नेह की अनुभूति से विभोर हो उठे और जब उन्होंने एक दूसरे का आलिंगन किया, तो उन्हें रोमांच हो आया ।

सुनीतिरस्य जननी प्राणेभ्योऽपि प्रियं सुतम् ।
उपगुह्य जहावाधिं तदङ्गस्पर्शनिर्वृता ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सुनीतिः—सुनीति, ध्रुव की असली माता; अस्य—उसकी; जननी—माता; प्राणेभ्यः—प्राणवायु से बढ़कर; अपि—भी;
प्रियम्—प्रिय; सुतम्—पुत्र को; उपगुह्य—गले लगा कर; जहौ—त्याग दिया; आधिम्—सारा शोक; तत्-अङ्ग—उसका शरीर;
स्पर्श—छूकर; निर्वृता—सन्तुष्ट।

ध्रुव महाराज की असली माता सुनीति ने अपने पुत्र के कोमल शरीर को गले लगा लिया, क्योंकि वह उसे अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा था। इस प्रकार वह सारा भौतिक शोक भूल गई, क्योंकि वह परम प्रसन्न थी।

पयः स्तनाभ्यां सुस्त्राव नेत्रजैः सलिलैः शिवैः ।
तदाभिषिच्यमानाभ्यां वीर वीरसुवो मुहुः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

पयः—दूध; स्तनाभ्याम्—दोनों स्तनों से; सुस्त्राव—बहने लगा; नेत्र-जैः—नेत्रों से; सलिलैः—अश्रुओं के द्वारा; शिवैः—शुभ;
तदा—उस समय; अभिषिच्यमानाभ्याम्—भींग कर; वीर—हे विदुर; वीर-सुवः—वीर को जन्म देनेवाली माता का; मुहुः—
लगातार।

हे विदुर, सुनीति एक वीर की माता थी। उसके अश्रुओं ने उसके स्तनों से बहनेवाले दूध की धारा के साथ मिलकर ध्रुव महाराज के सार शरीर को भींगो दिया। यह परम मांगलिक लक्षण था।

तात्पर्य : जब देवों की स्थापना की जाती है, तो उन्हें दुग्ध, दधि तथा जल से स्नान कराया जाता है और यह संस्कार अभिषेक उत्सव कहलाता है। इस श्लोक में यह विशेष उल्लेख है कि सुनीति के नेत्रों से बहकर आनेवाले अश्रु सर्वकल्याणकारी थे। अपनी प्रिय माँ द्वारा किये गये इस अभिषेक उत्सव की कल्याणप्रदता इस बात की सूचक थी कि निकट भविष्य में ध्रुव महाराज को उनके पिता का सिंहासन मिलेगा ध्रुव महाराज के गृहत्याग की कथा यह है कि उनके पिता ने उन्हें अपनी गोद में बैठाने से मना किया, तो ध्रुव ने दृढ़ संकल्प किया कि जब तक उन्हें पिता का सिंहासन प्राप्त नहीं होगा वे घर नहीं आयेंगे। अब उनकी माता द्वारा सम्पन्न यह अभिषेकोत्सव इसका सूचक था कि वे महाराज उत्तानपाद का स्थान ग्रहण करनेवाले हैं।

इस श्लोक में आगत *वीरसुवः* शब्द भी महत्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है “वीर की माता” और यह

ध्रुव की माता के लिए प्रयुक्त है। दुनिया में अनेक वीर हैं, किन्तु ध्रुव महाराज से उनकी कोई समता नहीं, क्योंकि वे न केवल इस ब्रह्माण्ड के महान् भक्त भी थे। भक्त एक महान् वीर भी होता है, क्योंकि वह माया के प्रभाव को जीत लेता है। जब भगवान् चैतन्य ने रामानन्द राय से संसार के सबसे प्रसिद्ध मनुष्य का नाम पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि जो भी भगवान् का महान् भक्त है, वही सबसे प्रसिद्ध व्यक्ति माना जा सकता है।

तां शशंसुर्जना राज्ञीं दिष्ट्या ते पुत्र आर्तिहा ।
प्रतिलब्धश्चिरं नष्टो रक्षिता मण्डलं भुवः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ताम्—सुनीति को; शशंसुः—प्रशंसा की; जनाः—सामान्य लोग; राज्ञीम्—रानी को; दिष्ट्या—भाग्य से; ते—तुम्हारा; पुत्रः—पुत्र; आर्ति-हा—तुम्हारे समस्त कष्टों को नष्ट कर देगा; प्रतिलब्धः—अब लौटा हुआ; चिरम्—दीर्घकाल से; नष्टः—नष्ट; रक्षिता—रक्षा करेगा; मण्डलम्—मंडल, भू-गोलक; भुवः—भूमि को।

राज महल के निवासियों ने रानी की इस प्रकार से प्रशंसा की : हे रानी, दीर्घकाल से आपका प्रिय पुत्र खोया हुआ था। यह आपका परम सौभाग्य है कि वह अब वापस आ गया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि वह दीर्घकाल तक आपकी रक्षा करेगा और आपके सारे सांसारिक कष्टों को दूर कर देगा।

अभ्यर्चितस्त्वया नूनं भगवान्प्रणतार्तिहा ।
यदनुध्यायिनो धीरा मृत्युं जिग्युः सुदुर्जयम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

अभ्यर्चितः—पूजित; त्वया—तुम्हारे द्वारा; नूनम्—फिर भी; भगवान्—भगवान्; प्रणत-आर्ति-हा—जो अपने भक्तों को संकट से उबार सके; यत्—जिसको; अनुध्यायिनः—निरन्तर ध्यान धरते हुए; धीराः—परम साधु पुरुष; मृत्युम्—मृत्यु को; जिग्युः—जीत लिया; सुदुर्जयम्—जिसे जीतना अत्यन्त कठिन है।

हे रानी, आपने अवश्य ही उन भगवान् की पूजा की होगी, जो भक्तों को बड़े संकट से उबारनेवाले हैं। जो मनुष्य निरन्तर उनका ध्यान करते हैं, वे जन्म तथा मृत्यु की प्रक्रिया से आगे निकल जाते हैं। यह सिद्धि प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : रानी सुनीति ने तो ध्रुव को खोया हुआ समझ लिया था, किन्तु उनकी अनुपस्थिति में वह लगातार भगवान् का ध्यान करती रही, जो भक्तों को समस्त संकटों से उबारनेवाले हैं। घर से दूर रह

कर मधुवन में ध्रुव महाराज ने ही कठिन तपस्या नहीं की, वरन् घर पर रह कर उनकी माता भी उनकी रक्षा और कल्याण के लिए निरन्तर भगवान् से प्रार्थना करती थीं। दूसरे शब्दों में, माता तथा पुत्र दोनों ही भगवान् की पूजा करते थे और दोनों को परमेश्वर का परम आशीर्वाद प्राप्त हो सका। सुदुर्जयम् शब्द जो विशेषण की तरह प्रयुक्त है और जिसका अर्थ है कि मृत्यु को कोई जीत नहीं सकता, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब ध्रुव महाराज घर से दूर थे तो उनके पिता ने उन्हें मृत समझ लिया था। सामान्य रूप से यदि किसी राजा का पाँच वर्ष का पुत्र घर से दूर जंगल में हो तो उसे मृत समझ लिया जाएगा, किन्तु भगवान् की कृपा से वह न केवल सुरक्षित था, वरन् उसे परम सिद्धि का वरदान भी प्राप्त हुआ था।

लाल्यमानं जनैरेवं ध्रुवं सभ्रातरं नृपः ।

आरोप्य करिणीं हृष्टः स्तूयमानोऽविशत्पुरम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

लाल्यमानम्—प्रशंसित; जनैः—जनता द्वारा; एवम्—इस प्रकार; ध्रुवम्—महाराज ध्रुव को; स-भ्रातरम्—अपने भाई के साथ; नृपः—राजा; आरोप्य—चढ़ाकर; करिणीम्—हथिनी की पीठ पर; हृष्टः—प्रसन्न; स्तूयमानः—तथा प्रशंसित होकर; अविशत्—वापस आया; पुरम्—अपनी राजधानी को।

मैत्रेय मुनि ने आगे बताया : हे विदुर, सभी लोग जब इस प्रकार से ध्रुव महाराज की बड़ाई कर रहे थे तो राजा अत्यन्त प्रसन्न था। उसने ध्रुव तथा उनके भाई को एक हथिनी की पीठ पर सवार कराया। इस प्रकार वह अपनी राजधानी लौट आया, जहाँ सभी वर्ग के लोगों ने उसकी प्रशंसा की।

तत्र तत्रोपसङ्घिप्तैर्लसन्मकरतोरणैः ।

सवृन्दैः कदलीस्तम्भैः पूगपोतैश्च तद्विधैः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; उपसङ्घिप्तैः—बनाये गये; लसत्—चमकीले; मकर—मगर के आकार के; तोरणैः—मेहराबदार दरवाजों से; स-वृन्दैः—फूलों तथा फलों के गुच्छों से; कदली—केले के वृक्षों के; स्तम्भैः—ख भों से; पूग-पोतैः—सुपारी के नये पौधों से; च—भी; तत्-विधैः—उस प्रकार का।

सारा नगर केले के स्तम्भों से सजाया गया था, जिनमें फूलों तथा फलों के गुच्छे लटक रहे थे और जहाँ-तहाँ पत्तियों तथा टहनियों से युक्त सुपारी के वृक्ष दिख रहे थे। ऐसे अनेक तोरण

भी बनाये गये थे, जो मगर के आकार के थे।

तात्पर्य : शुभ अवसरों पर ताड़ की हरी पत्तियों, नारियल के वृक्षों, सुपारी के वृक्षों तथा केले के वृक्षों एवं फल, फूल, तथा पत्तियों से सजावट करने की शुभ प्रथा भारत में अत्यन्त प्राचीन है। अपने महान् पुत्र ध्रुव महाराज के स्वागतार्थ राजा उत्तानपाद ने अच्छा प्रबन्ध कर रखा था और सभी नागरिक इस समारोह में उत्साहपूर्वक सम्मिलित हुए।

चूतपल्लववासःस्त्रङ्मुक्तादामविलम्बिभिः ।

उपस्कृतं प्रतिद्वारमपां कुम्भैः सदीपकैः ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

चूत-पल्लव—आम की पत्तियों से; वासः—वस्त्र; स्त्रङ्—फूल की मालाएँ; मुक्ता-दाम—मोती की लड़ें; विलम्बिभिः—लटकती हुई; उपस्कृतम्—सुसज्जित; प्रति-द्वारम्—प्रत्येक द्वार पर; अपाम्—जल से पूर्ण; कुम्भैः—जलपात्रों से; स-दीपकैः—जलते हुए दीपों से।

द्वार-द्वार पर जलते हुए दीपक और तरह-तरह के रंगीन वस्त्र, मोती की लड़ों, पुष्पहारों तथा लटकती आम की पत्तियों से सज्जित बड़े-बड़े जल के कलश रखे हुए थे।

प्राकारैर्गोपुरागारैः श्वातकुम्भपरिच्छदैः ।

सर्वतोऽलङ्कृतं श्रीमद्विमानशिखरद्युभिः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

प्राकारैः—परकोटों से; गोपुर—नगर-द्वारों; आगारैः—घरों से; श्वातकुम्भ—सुनहले; परिच्छदैः—अलंकृत काम से, कारीगरी से; सर्वतः—चारों ओर; अलङ्कृतम्—सजाया हुआ; श्रीमत्—बहुमूल्य, सुन्दर; विमान—विमान; शिखर—चोटी, कँगूरे; द्युभिः—चमकते हुए।

राजधानी में अनेक महल, नगर-द्वार तथा परकोटे थे, जो पहले से ही अत्यन्त सुन्दर थे, किन्तु इस अवसर पर उन्हें सुनहले आभूषणों से सजाया गया था। नगर के महलों के कँगूरे तो चमक ही रहे थे साथ ही नगर के ऊपर मँडराने वाले सुन्दर विमानों के शिखर भी।

तात्पर्य : यहाँ पर विमानों का जो उल्लेख हुआ है, उसके सम्बन्ध में श्रीमद् विजयध्वज तीर्थ ने यह सुझाया है कि इस अवसर पर स्वर्गलोक के देवता भी अपने-अपने विमानों में चढ़कर राजा की राजधानी में ध्रुव महाराज के आगमन पर आशीर्वाद देने पधारे थे। ऐसा भी प्रतीत होता है कि नगर के सभी महलों के कँगूरे तथा विमानों के शिखर सुनहरी कारीगरी से अलंकृत किये गये थे और सूर्य

प्रकाश से प्रतिबिम्बित वे चमक रहे थे। हम आसानी से ध्रुव महाराज के काल तथा आधुनिक काल के अन्तर को समझ सकते हैं, क्योंकि तब विमान सोने के बनाये जाते थे और आज-कल वे अलमुनियम बने होते हैं। इससे ध्रुव महाराज के समय के ऐश्वर्य और आधुनिक युग की गरीबी का पता चलता है।

मृष्टचत्वररथ्याट्टमार्गं चन्दनचर्चितम् ।

लाजाक्षतैः पुष्पफलैस्तण्डुलैर्बलिभिर्युतम् ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

मृष्ट—पूरी तरह स्वच्छ; चत्वर—चौक; रथ्या—मार्ग; अट्ट—चौपालें, अटारियाँ; मार्गम्—गलियाँ; चन्दन—चन्दन से; चर्चितम्—छिड़की हुई; लाज—लावा से; अक्षतैः—जौ से; पुष्प—फूलों से; फलैः—तथा फलों से; तण्डुलैः—धान से; बलिभिः—उपहार-सामग्रियों से; युतम्—युक्त।

नगर की सभी चौकें, गलियाँ, मार्ग तथा चौराहों की अटारियाँ अच्छी तरह स्वच्छ करके चन्दन जल से छिड़की गई थीं और सारे नगर में धान तथा जौ जैसे शुभ अन्न, फूल, फल तथा अन्य अनेक शुभ उपहार-सामग्रियाँ बिखेरी हुई थीं।

ध्रुवाय पथि दृष्टाय तत्र तत्र पुरस्त्रियः ।

सिद्धार्थाक्षतदध्यम्बुदूर्वापुष्पफलानि च ॥ ५८ ॥

उपजह्वुः प्रयुञ्जाना वात्सल्यादाशिषः सतीः ।

शृण्वंस्तद्वल्गुगीतानि प्राविशद्भवनं पितुः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

ध्रुवाय—ध्रुव पर; पथि—मार्ग पर; दृष्टाय—देखी हुई; तत्र तत्र—जहाँ-तहाँ; पुर-स्त्रियः—घरों की महिलाएँ; सिद्धार्थ—सफेद सरसों; अक्षत—जौ; दधि—दही; अम्बु—जल; दूर्वा—दूब; पुष्प—फूल; फलानि—फल; च—भी; उपजह्वुः—वर्षा की; प्रयुञ्जानाः—उच्चारण करते हुए; वात्सल्यात्—वासल्यभाव से; आशिषः—आशीर्वाद; सतीः—भद्र महिलाएँ; शृण्वन्—सुनते हुए; तत्—उनके; वल्गु—अत्यन्त मधुर; गीतानि—गीत; प्राविशत्—प्रविष्ट किया; भवनम्—महल; पितुः—पिता के।

इस प्रकार जब ध्रुव महाराज मार्ग से जा रहे थे तो पास-पड़ोस की समस्त भद्र महिलाएँ उन्हें देखने के लिए एकत्र हो गईं, वे वात्सल्य-भाव से अपना-अपना आशीर्वाद देने लगीं और उन पर सफेद सरसों, जौ, दही, जल, दूब, फल तथा फूल बरसाने लगीं। इस प्रकार ध्रुव महाराज स्त्रियों द्वारा गाये गये मनोहर गीत सुनते हुए अपने पिता के महल में प्रविष्ट हुए।

महामणिब्रातमये स तस्मिन्भवनोत्तमे ।

लालितो नितरां पित्रा न्यवसद्विवि देववत् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

महा-मणि—मूल्यवान मणियों के; व्रात—समूह; मये—से सज्जित; सः—वह (ध्रुव); तस्मिन्—उसमें; भवन-उत्तमे—चमकीले भवन में; लालितः—लाड़-प्यार से; नितराम्—सदैव; पित्रा—पिता द्वारा; न्यवसत्—वहाँ निवास किया; दिवि—स्वर्ग में; देव-वत्—देवताओं के समान।

तत्पश्चात् ध्रुव महाराज अपने पिता के महल में रहने लगे, जिसकी दीवालें अत्यन्त मूल्यवान मणियों से सज्जित थीं। उनके वत्सल पिता ने उनकी विशेष देख-रेख की और वे उस महल में उसी तरह रहने लगे, जिस प्रकार देवतागण स्वर्गलोक में अपने प्रासादों में रहते हैं।

पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।

आसनानि महार्हाणि यत्र रौक्मा उपस्कराः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

पयः—दूध; फेन—फेना, झाग; निभाः—सदृश; शय्याः—बिस्तर; दान्ताः—हाथी-दाँत के बने; रुक्म—सुनहरे; परिच्छदाः—कामदार; आसनानि—आसन; महा-अर्हाणि—अत्यन्त मूल्यवान; यत्र—जहाँ; रौक्माः—सुनहले; उपस्कराः—सामान।

महल में जो शयन-शय्या थी, वह दूध के फेन के समान श्वेत तथा अत्यन्त मुलायम थी। उसके भीतर की पलंगें हाथी-दाँत की थीं, जिनमें सोने की कारीगरी थी और कुर्सियाँ, बेन्चें तथा अन्य आसन एवं सामान सोने के बने हुए थे।

यत्र स्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।

मणिप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; स्फटिक—संगमरमर की; कुड्येषु—दीवारों पर; महा-मारकतेषु—मरकतमणि जैसी बहुमूल्य मणियों से सज्जित; च—भी; मणि-प्रदीपाः—मणियों के दीपक; आभान्ति—प्रकाश कर रहे थे; ललना—स्त्री-मूर्ति; रत्न—मणियों से निर्मित; संयुताः—पर रखी।

राजा का महल संगमरमर की दीवारों से घिरा था, जिन पर बहुमूल्य मरकत मणियों से पच्चीकारी की गई थी और जिन पर हाथ में प्रदीप्त मणिदीपक लिए सुन्दर स्त्रियों जैसी मूर्तियाँ लगी थीं।

तात्पर्य : उत्तानपाद के महल का यह वर्णन श्रीमद्भागवत की रचना के पूर्व हजारों वर्ष पहले की दशा को बताता है। चूँकि यह कहा गया है कि महाराज ध्रुव ने छत्तीस हजार वर्ष राज्य किया, अतः वे सत्ययुग में रहे होंगे. जब मनुष्य एक लाख वर्ष जीवित रहते थे। चारों युगों की जीवन-अवधि का वर्णन वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। सत्ययुग में लोग एक लाख वर्ष जीवित रहते थे, त्रेता में दस

हजार वर्ष, द्वापर में एक हजार वर्ष और इस कलियुग में लोग सौ वर्ष तक जीवित रह सकते हैं। प्रत्येक युग में मनुष्य का जीवन-काल क्रमशः ९० प्रतिशत घटता जाता है। इस प्रकार एक लाख से दस हजार, फिर, एक हजार और तब सौ वर्ष।

कहा जाता है कि ध्रुव महाराज ब्रह्मा के परनाती थे। इससे यह सूचित होता है कि वे सृष्टि के प्रारम्भ में सत्ययुग में विद्यमान थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, ब्रह्मा के एक दिन में कई सत्ययुग होते हैं। वैदिक गणना से इन समय अट्ठाइसवाँ कल्प चल रहा है। गणना से पता चलेगा कि ध्रुव महाराज लाखों वर्ष पूर्व हुए थे, किन्तु उनके पिता के महल का वर्णन इतना भव्य है कि हम यह स्वीकार करने को तैयार नहीं कि चालीस-पचास हजार वर्ष पूर्व मानवीय सभ्यता उन्नत न थी। अभी मुगल काल तक महाराज उत्तानपाद के महल जैसी दीवालें होती थीं। जिस किसी ने दिल्ली के लाल किले को देखा है, उसने यह देखा होगा कि दीवालें संगमरमर की हैं और किसी समय रत्नों से जटित थीं। ब्रिटिश काल में ये रत्न निकाल लिए गये और ब्रिटिश संग्रहालय में भेज दिये गये।

प्राचीन काल में सांसारिक वैभव मणियों, संगमरमर, रेशम, हाथी दाँत, सोना तथा चाँदी जैसे प्राकृतिक साधनों पर निर्भर था। उस काल का आर्थिक विकास बड़ी-बड़ी मोटरकारों पर आश्रित नहीं था। मानवीय सभ्यता की प्रगति औद्योगिक संस्थानों पर नहीं, वरन् प्राकृतिक सम्पदा और भोजन के स्वामित्व पर निर्भर करती है और वे सब भगवान् द्वारा प्रदत्त हैं। अतः हम अपना समय आत्म-साक्षात्कार तथा मानव शरीर की सार्थकता में लगा सकते हैं।

इस श्लोक का एक दूसरा पक्ष भी है कि शीघ्र ही ध्रुव महाराज के पिता उत्तानपाद महल की अपनी आसक्ति त्याग कर आत्म-साक्षात्कार के लिए जंगल के लिए प्रस्थान करेंगे। *श्रीमद्भागवत* के इस वर्णन से हम आधुनिक सभ्यता तथा अन्य युगों—सत्य युग, त्रेता युग तथा द्वापर युग—की मानवीय सभ्यता का सम्पूर्ण तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं।

उद्यानानि च रम्याणि विचित्रैरमरद्रुमैः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनैर्गायन्मत्तमधुव्रतैः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

उद्यानानि—बगीचे; च—भी; रम्याणि—अत्यन्त सुन्दर; विचित्रैः—विविध; अमर-द्रुमैः—स्वर्ग से लाये गये वृक्षों से; कूजत्—गाते हुए; विहङ्ग—पक्षियों के; मिथुनैः—जोड़ों से; गायत्—गुंजार करते; मत्त—पागल, उन्मत्त; मधु-व्रतैः—भौरों से।

राजा के महल के चारों ओर बगीचे थे, जिनमें उच्चस्थ लोकों से लाये गये अनेक प्रकार के वृक्ष थे। इन वृक्षों पर मधुर गीत गाते पक्षियों के जोड़े तथा गुंजार करते मदमत्त भौर थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में अमर-द्रुमैः शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है “स्वर्ग से लाये गये वृक्ष।” उच्चस्थ लोकों को अमरलोक कहा जाता है, जहाँ मृत्यु देर से होती है, क्योंकि देवताओं की गणना के अनुसार वहाँ के लोग दस हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं, जहाँ हमारे छह मास वहाँ के एक दिन के तुल्य होते हैं। देवता स्वर्ग लोक में देवलोक के समय के अनुसार मासों, वर्षों तथा दस हजार वर्षों तक जीवित रहते हैं और जब उनके पुण्यकर्म क्षीण हो जाते हैं, तो वे पुनः पृथ्वी पर आ जाते हैं। ये सारे कथन वैदिक साहित्य में प्राप्य हैं। जिस प्रकार वहाँ मनुष्य दस हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं, उसी प्रकार वहाँ के वृक्ष भी। वस्तुतः इस पृथ्वी पर भी अनेक वृक्ष ऐसे हैं, जो दस हजार वर्ष तक रहते हैं, तो फिर स्वर्ग के वृक्षों का क्या कहना? उन्हें कई दस हजारों वर्ष तक जीवित रहना चाहिए और कभी-कभी, जैसाकि आज भी प्रचलित है, कुछ अमूल्य वृक्ष एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी ले जाये जाते हैं।

अन्यत्र एक जगह कहा गया है कि जब श्रीकृष्ण अपनी पत्नी सत्यभामा के साथ स्वर्ग गये तो वे अपने साथ स्वर्ग से पारिजात पुष्प-वृक्ष पृथ्वी पर लेते आये। इसके लिए कृष्ण तथा देवताओं में युद्ध भी हुआ। यह पारिजात कृष्ण के महल में लगाया गया, जिस में सत्यभामा का निवास था। स्वर्गलोक में फूल तथा फलों के वृक्ष उत्तम होते हैं, वे अत्यन्त मनोहर तथा स्वादिष्ट होते हैं और ऐसा लगता है कि महाराज उत्तानपाद के महल में अनेक प्रकार के ऐसे वृक्ष थे।

वाप्यो वैदूर्यसोपानाः पद्मोत्पलकुमुद्वतीः ।

हंसकारण्डवकुलैर्जुष्टाश्चक्राहसारसैः ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

वाप्यः—बावड़ियाँ; वैदूर्य—वैदूर्य (पुखराज); सोपानाः—सीढ़ियों से; पद्म—कमल; उत्पल—नील कमल; कुमुत्-वतीः—कुमुदिनियों से पूर्ण; हंस—हंस पक्षी; कारण्डव—तथा बत्तखें; कुलैः—के झुंडों से; जुष्टाः—निवसित; चक्राह—चक्रवाक से; सारसैः—तथा सारसों से।

बावड़ियों में पुखराज की सीढ़ियाँ थीं। इन बावड़ियों में विविध रंग के कमल तथा

कुमुदिनियाँ, हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस तथा अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षी दिखाई पड़ रहे थे।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि महल के चारों ओर परकोटे तथा भाँति-भाँति के वृक्षों से युक्त उद्यान ही न थे, वरन् मानव-निर्मित बावड़ियाँ भी थीं, जिनका जल रंग-बिरंगे कमल के फूलों तथा कुमुदिनियों से भरा पड़ा था। बावड़ी में उतरने के लिए पुखराज जैसे मूल्यवान हीरों की सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। इस प्रकार सुन्दर उद्यानों से घिरे महलों में हंस, चक्रवाक, कारण्डव तथा सारस जैसे प्रमुख पक्षी भी थे। ये पक्षी सामान्यतः ऐसे गन्दे स्थानों में नहीं रहते हैं, जहाँ कौए रहते हैं। इस वर्णन से कल्पना की जा सकती है कि नगर का वातावरण कितना स्वास्थ्यप्रद तथा सुन्दर था!

उत्तानपादो राजर्षिः प्रभावं तनयस्य तम् ।

श्रुत्वा दृष्ट्वाद्भुततमं प्रपेदे विस्मयं परम् ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

उत्तानपादः—राजा उत्तानपाद; राज-ऋषिः—साधु प्रकृति का महान् राजा; प्रभावम्—प्रभाव; तनयस्य—अपने पुत्र का; तम्—उसे; श्रुत्वा—सुनकर; दृष्ट्वा—देखकर; अद्भुत—आश्चर्यमय; तमम्—अधिकतम; प्रपेदे—सुखपूर्वक अनुभव किया; विस्मयम्—विस्मय; परम्—परम।

राजर्षि उत्तानपाद ने ध्रुव महाराज के यशस्वी कार्यों के विषय में सुना और स्वयं भी देखा कि वे कितने प्रभावशाली और महान् थे, इससे वे अत्यधिक प्रसन्न हुए, क्योंकि ध्रुव महाराज के कार्य अत्यन्त विस्मयकारी थे।

तात्पर्य : जब ध्रुव महाराज जंगल में तपस्या कर रहे थे तो उनके पिता उत्तानपाद ने उसके आश्चर्यजनक कार्य-कलापों के सम्बन्ध में सब कुछ सुन लिया था। यद्यपि ध्रुव महाराज राजपुत्र थे और केवल पाँच वर्ष के थे, किन्तु वे जंगल जाकर कठिन तपस्या के द्वारा भक्तियोग में लगे रहे। अतः उनके सारे कार्य आश्चर्यजनक थे और जब वे घर वापस आ गये तो स्वाभाविक था कि अपने आध्यात्मिक गुणों के कारण वे नागरिकों में अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। उन्होंने भगवतकृपा से अनेक विस्मयजनक कार्य किये होंगे। जो व्यक्ति इस प्रकार के यशस्वी कार्य करे, उसका पिता भला क्यों न इतना प्रसन्न हो? महाराज उत्तानपाद सामान्य राजा न थे, वे राजर्षि थे। पहले के समय में इस पृथ्वी पर एक ही राजर्षि राज्य करता था। राजाओं को साधु प्रकृति वाले बनने की शिक्षा दी जाती थी, अतः उनके पास प्रजा के कल्याण के अतिरिक्त कोई काम नहीं रहता था। इन राजर्षियों को समुचित शिक्षा दी जाती थी

और जैसाकि *भगवद्गीता* में भी उल्लेख है, ईश्वरीय ज्ञान अथवा भक्तियोग जिसे *भगवद्गीता* कहते हैं *राजर्षि* सूर्य को प्रदान किया गया और क्रमशः वह सूर्य तथा चन्द्रमा से उत्पन्न क्षत्रिय राजाओं को प्राप्त हुआ। यदि राज्य का प्रधान साधु प्रकृति का होता है, तो प्रजा भी वैसी ही होती है और प्रजा परम प्रसन्न रहती हैं, क्योंकि उसकी भौतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति होती रहती है।

वीक्ष्योढवयसं तं च प्रकृतीनां च सम्मतम् ।

अनुरक्तप्रजं राजा ध्रुवं चक्रे भुवः पतिम् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

वीक्ष्य—देखकर; ऋढ-वयसम्—प्रौढ़ अवस्था; तम्—ध्रुव को; च—तथा; प्रकृतीनाम्—मंत्रियों द्वारा; च—भी; सम्मतम्—अनुमोदित; अनुरक्त—प्रिय; प्रजम्—अपनी प्रजा द्वारा; राजा—राजा; ध्रुवम्—ध्रुव महाराज को; चक्रे—बना दिया; भुवः—पृथ्वी का; पतिम्—स्वामी (राजा)।

तत्पश्चात् जब राजा उत्तानपाद ने विचार करके देखा कि ध्रुव महाराज राज्य का भार सँभालने के लिए समुचित प्रौढ़ (वयस्क) हो चुके हैं और उनके मंत्री भी सहमत हैं तथा प्रजा को भी वे प्रिय हैं, तो उन्होंने ध्रुव को इस लोक के सम्राट के रूप में सिंहासन पर बिठा दिया।

तात्पर्य : यद्यपि यह भ्रान्त धारणा है कि प्राचीन काल की सरकार निरंकुश होती थी, किन्तु इस वर्णन से पता चलता है कि राजा उत्तानपाद न केवल *राजर्षि* थे, वरन् अपने पुत्र को सिंहासन पर बिठाने के पूर्व उन्होंने अपने सारे मंत्रियों से मंत्रणा कर ली थी; प्रजा के भी मत पर विचार किया था और स्वयं भी ध्रुव के चरित्र को परखा था। तभी राजा ने विश्व के कार्यकलापों की बागडोर सँभालने के लिए उन्हें सिंहासन पर बिठाया था।

जब ध्रुव महाराज—जैसा वैष्णव सारे विश्व की सत्ता का अध्यक्ष हो तो विश्व कितना सुखी होगा, इसकी न तो कल्पना की जा सकती है, न वर्णन किया जा सकता है। यहाँ तक कि आज भी यदि सभी लोक कृष्णभक्त हो लें, तो आज की प्रजातंत्र सरकार स्वर्ग-साम्राज्य जैसी हो जाये। यदि सभी लोग कृष्ण-भक्त बन जाँए तो वे ध्रुव महाराज जैसे भक्त को ही अपना मत देंगे। यदि प्रमुख कार्यकारी का पद ऐसे वैष्णव को मिल जाये तो आसुरी सरकार की सारी समस्याएँ हल हो जायें। आधुनिक युग की युवा पीढ़ी विश्व के विभिन्न भागों में सरकार का तख्ता पलटने में उत्साहपूर्वक प्रयत्नशील है, किन्तु

जब तक लोग ध्रुव महाराज के समान कृष्ण-भक्त नहीं हो जाते, तब तक सरकार में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि जो लोग छल-बल से राजनैतिक पद प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, वे जनता के कल्याण के सम्बन्ध में नहीं सोच सकते। वे तो अपनी प्रतिष्ठा और आर्थिक लाभ बनाये रखने में ही व्यस्त रहते हैं। उन्हें जनता के बारे में कल्याण के बारे में सोचने के लिए समय ही नहीं मिल पाता।

आत्मानं च प्रवयसमाकलय्य विशाम्पतिः ।

वनं विरक्तः प्रातिष्ठद्विमृशन्नात्मनो गतिम् ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—स्वयं; च—भी; प्रवयसम्—वृद्धावस्था; आकलय्य—समझ कर; विशाम्पतिः—राजा उत्तानपाद ने; वनम्—वन को; विरक्तः—विरक्त; प्रातिष्ठत्—प्रयाण किया; विमृशन्—चिन्तन करते; आत्मनः—अपनी, आत्म की; गतिम्—मुक्ति।

अपनी वृद्धावस्था और आत्म-कल्याण पर विचार करके, राजा उत्तानपाद ने अपने आपको सांसारिक कार्यों से विरक्त कर लिया और जंगल में चले गये।

तात्पर्य : यही राजर्षि का लक्षण है। राजा उत्तानपाद अत्यन्त ऐश्वर्यशाली थे और विश्व के सम्राट थे, अतः उनकी ये आसक्तियाँ महान् थीं। आधुनिक राजनीतिज्ञ राजा उत्तानपाद जैसे राजाओं सदृश महान् नहीं होते। क्योंकि उन्हें कुछ काल के लिए अधिकार मिलते हैं, अतः वे इतने आसक्त हो जाते हैं कि उस पद से तब तक नहीं हटते, जब तक क्रूर काल उन्हें उठा न ले जाये या कोई विरोधी पार्टीवाला मार न दे। यह हमारा अनुभव है कि भारत में राजनीतिज्ञ अपनी मृत्यु तक पद-त्याग नहीं करते, किन्तु प्राचीन काल में ऐसी प्रथा न थी, जैसाकि उत्तानपाद के आचरण से स्पष्ट है। अपने सुयोग्य पुत्र को सिंहासन पर बैठाने के तुरन्त बाद वे घर तथा अपना महल छोड़ कर चले गये। ऐसे सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनमें प्रौढ़ अवस्था प्राप्त होने पर राजा अपने सिंहासन त्याग कर जंगल में तपस्या करने चले गये। मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य तपस्या करना है। जिस प्रकार ध्रुव महाराज ने अपने बाल्यपन में तपस्या की, उसी प्रकार उनके पिता उत्तानपाद ने भी बुढ़ापे में जंगल जाकर तप किया। किन्तु आजकल यह सम्भव नहीं कि लोग अपना घर छोड़ कर जंगल जाकर तपस्या करें। किन्तु यदि सभी आयु के लोग कृष्णभावनामृत-आन्दोलन की शरण ग्रहण करें तथा अवैध मैथुन,

मद्यपान, द्यूत क्रीड़ा, मांसभक्षण जैसे सामान्य कृत्यों के त्याग को ही तपस्या मान लें तथा नियमित रूप से (१६ माला) हरे कृष्ण मंत्र का जप करें तो इस विधि से इस संसार में सरलता से मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत “ध्रुव महाराज का घर लौटना” नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।